सहजानंद शास्त्रमाला

इष्टोपदेश प्रवचन

द्वितीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'इष्टोपदेश प्रवचन द्वितीय भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें इष्टोपदेश प्रवचन के श्लोक २६ से श्लोक ५१ पर प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Contents

प्रकाशकीय....2

आत्मकीर्तन....3

आत्म रमण 3

इष्टोपदेश प्रवचन द्‍वितीय भाग....6

श्लोक 26....6

श्लोक 27....10

श्लोक 28....15

श्लोक 29....19

श्लोक 30....23

श्लोक 31....28

श्लोक 32....32

श्लोक 33....37

श्लोक 34....42

श्लोक 35....45

श्लोक 36....50

श्लोक 37....55

श्लोक 38....59

श्लोक 39....64

श्लोक 40....69

श्लोक 41....74

श्लोक 42....80

श्लोक 43....85

श्लोक 44....90

श्लोक 45....94

श्लोक 46....99

श्लोक 47....104

श्लोक 48....109

श्लोक 49....114

श्लोक 50....118

श्लोक 51......122

इष्टोपदेश प्रवचन द्वितीय भाग

श्लोक 26

वध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।।२६।।

ममत्व व निर्ममत्व बन्ध व मोक्ष का कारण—यह जीव ममता परिणाम से सहित होता हुआ कर्मों से बंध जाता है और ममतारहित होता हुआ कर्मों से छूट जाता है, इस कारण सर्वप्रकार से प्रयत्न करके अपने आपके निर्ममत्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। इस श्लोक में बंधने और छूटने का विधान बताया गया है। जो पुरुष ममत्व परिणाम रखता है, जो वस्तु अपनी नहीं है, अपने आपके स्वरूप को छोड़कर अन्य जितने भी पदार्थ है वे सभी अपने नहीं है, उनको जो अपना मानता है वह कर्मों से बंध जाता है। परपदार्थों को अपना मानना यह तो है बन्ध का कारण, और परपदार्थों में ममत्व न होना यह है मोक्ष का कारण। इस कारण संसार संकटो से मुक्ति चाहने वाले पुरुषों को सर्व तरह से तन, मन, धन, वचन सर्व कुछ न्यौछावर करके, संन्यास करके अपने आपको ममतारहित चिन्तन करना चाहिए।

ममत्वभारवाही—भैया ! यह जीव निरन्तर दुःखी रहा करना है। इसका सुख भी दुःख है और दुःख तो दुःख है ही। इन समस्त क्लेशों का कारण है अपने आपको किसी न किसी परिणमन रूप अनुभवन करते रहना। जो यह मन में सोचेगा कि मैं इसका बाप हूं, अमुक हूं तो इस चिन्तन के कारण बाप के नाते से अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का क्षोभ होगा, खेद होगा, उसका बोझ इसी को ही ढोना पड़ेगा, कोई दूसरा नहीं ढो सकता।

दृष्टान्त द्वारा ममत्व के भार का प्रदर्शन—एक साधु था, वह जंगल में तपस्या कर रहा था। वहाँ अचानक कोई राजा पहुँच गया, कहा— महाराज ! इस प्रकार की गर्मी के दिनों मे इतना बड़ा कष्ट क्यों सह रहे हो? पैर में जूते नहीं है, छतरी भी नहीं है, बदन भी नंगा है, क्यों इतनी गर्मी ज्येष्ठ के दिनों में सह रहे हो? महाराज और कुछ नहीं तो हम आपको एक छतरी देते हैं सो छतरी लगाकर चला करना। साधु बोला—बहुत अच्छी बात है, ऊपर की धूप तो छाते से मिट जायगी, पर नीचे जो पृथ्वी की गर्मी है उसका क्या इलाज करें ? तो राजा बोला—महाराज आपको बढ़िया रेशम के जूते पहुँचा देंगे। साधु ने कहा—अच्छा यह भी समस्या हल हो गयी। किन्तु नंगा बदन है, लू लगती है, इसका क्या इलाज करे? राजा ने कहा महाराज कपड़े बनवा देंगे साधु ने कहा कि आपने यह तो बहुत आराम की बात कही, पर जब जूता भी पहिन लिया, छाता भी मिल गया

कपड़े भी पहिन लिये तो फिर तिष्ठ-तिष्ठ कौन कहेगा, कौन फिर पड़गाहेगा ? राजा ने कहा महाराज इसकी कुछ फिक्र न करो, आपके आहार के लिए चार पाँच गाँव लगा देंगे? उनकी आमदनी से आपका गुजारा चलेगा। ठीक है, पर खाना कौन बनावेगा ? तो महाराज आप की शादी करवा देंगे, स्त्री हो जायगी। साधु ने कहा कि यह तो ठीक है, पर स्त्री से बच्चा होंगे तो उनमें से कोई मरेगा भी। मरने पर कौन रोवेगा ? तो राजा बोला— महाराज और तो हम सब कर सकते हैं पर उन बच्चा-बच्ची के मरने पर रोना आपको ही पड़ेगा। क्योंकि जिसमें ममत्व होगा, वही तो रोवेगा, कोई दूसरा न रोने आयेगा। तो साधु बोला कि जिस छतरी के कारण मुझे रोने की भी नौबत आयगी ऐसी आपकी यह छतरी भी हमें न चाहिए। हमें तो अपने में ही चैन मानना है, हम तो अपने में ही शान्ति पा रहे हैं।

पर में आत्मीयता की बुद्धि का अंधेरा—भैया ! जो ममत्व करेगा वही प्रत्येक प्रकार से बंधेगा, जो ममत्वरहित होगा वह छूट जायेगा। सो समस्त प्रयत्न करके अपने आपको ममत्वरहित चिन्तन करना चाहिए। परपदार्थों को मेरा है, मेरा है—ऐसा अंतरंग में विश्वास रहना यह घोर अंधकार है। अंधकार से यह जीव सुध भूल जाता है, अपनी और बहिर्मुख दृष्टि बनाकर संसार में भ्रमण करता है। मोही जीव किन-किन पदार्थों को अपना समझ रहा है ? स्त्री, पुत्र, धन-वैभव, राज्य, अनाज, पशु, गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, मोटर साइकिल, कोट, कमीज, न जाने किन-किन वस्तुओं को यह मोही जीव अपनाता है। लोकव्यवहार के कारण कोई मेरा-मेरा कहता है, इतने पर तो कुछ नुकसान नहीं है किन्तु यह तो उनमें ऐसी आत्मीयता की बुद्धि करे है कि उनका बिगाड़ होने पर अपना बिगाड़ मानता है।

तृष्णा के संस्कार का परिणमन—इस संसार के रोगी को तृष्णा ऐसी लगी है कि ये प्राणी पाये हुए समागम का भी सुख नहीं भोग सकते। और तो बात जाने दो, भोजन भी कर रहे हैं तो सुख से भोजन नहीं कर सकते। तृष्णा अगले कौर की लगी है, इसलिए जो ग्रास मुख में है उसको भी यह सुख से नहीं भोग पाता है, ऐसे ही इस धन सम्पदा की बात है। तृष्णा ऐसी लगी है कि और धन आ जाय, इसके चिन्तन से वर्तमान में प्राप्त समागम को भी यह जीव सुख से नहीं भोग पाता है। मान लो जितना धन आज है उसका चौथाई ही रहता तो क्या गुजारा न चलता ? या मनुष्य ही न होते, पशुपक्षी, कीड़ा मकोड़ा, होते तो क्या हो नहीं सकते थे ? यदि पशु पक्षी होते तो कैसा क्लेश में समय गुजारा ? कहीं वृक्ष होते तो खड़े-खड़े रहकर ही फिर सारा समय गुजारते फिरते। किन्तु उन समस्त दुर्गतियों से निकल भी आये हैं तो भी वर्तमान समागम नहीं होता है। अरे क्यों नहीं धर्मपालन के लिए अपना जीवन समझा जाता है ? जब यह जीव मोहवश अज्ञान भाव से अपने में ममकार और अहंकार करता है तब इन कषायों की प्रवृति के कारण इस मिथ्या आशय के होने के कारण शुभ अशुभ कर्मों का बंध होने लगता है।

एक दृष्टान्त द्वारा स्नेह से कर्मबन्ध होने का समर्थन—कर्मों का बन्धन परिणामों के माध्यम से होता है, बाह्य वातावरण से नहीं। जैसे कोई पुरुष किसी धूल भरे अखाड़े में लंगोट कसकर तेल लगाकर हाथ में तलवार लेकर केला बांस आदि पर बड़ी तेजी से तलवार से प्रहार करता है तो वह धूल से लथपथ हो जाता है। वहाँ धूल के चिपकने को क्या कारण है? तो कोई कहेगा कि वाह सीधी सी तो बात है—धूल भरे अखाड़े में वह कूद गया तो धूल नहीं चिपकेगी तो और क्या होगा? लेकिन कोई दूसरा पुरुष उस ही प्रकार लंगोट कसकर हाथ में तलवार लेकर उन बाँस केलों पर ही तेजी से प्रहार करे, किन्तु तेल भर नहीं लगाया है, उस पुरुष के तो घुल चिपकती हुई नहीं देखी जाती है। इस कारण तुम्हारा यह कहना अनुचित है कि धूल भरे अखाड़े में गया इसलिए धूल बँधी। तो दूसरा कोई बोला कि भाई हथियार हाथ में लिया इसलिए धूल बँध गयी। तो दूसरे पुरुष ने भी तो तलवार हाथ में लिया, पर उसके तो धूल चिपकी हुई नहीं देखी जाती है, इसलिए हथियार का लेना भी धूल के चिपकने का कारण नहीं है। तो तीसरा कोई बोला कि उसने शस्त्र को केलों पर, बाँसों पर प्रहार किया इस कारण धूल बँधी। तो उस दूसरे पुरुष ने भी तो केलों पर, बासों पर शस्त्र से प्रहार किया, पर उसके तो धूल चिपकी हुई नहीं देखी जाती। अरे उस पुरुष ने तेल लगाया है इसलिए उसका शरीर धूल से लथपथ हो गया है और दूसरे ने तेल नहीं लगाया है इस कारण वह धूल से लथपथ नहीं हुआ है। क्रियायें सब जानते हैं कि शरीर में स्नेह लगा है स्नेह नाम तेल का है, चिकनाई लगी है उस कारण उसे धूल का बंध हो गया है।

कर्मव्याप्त लोक निवास कर्म बन्ध का अकारण—संसारी प्राणियों की भी अपने अध्यवसान के कारण दुर्दशा है। ये संसारी प्राणी इस शरीर से मन, वचन, काय की क्रियाएं करके और इन क्रियाओं के द्वारा जीवघात करके कर्मों से लिप रहे हैं, ऐसी स्थिति में कोई कारण पूछे कि यह जीव कर्म से क्यों लिप गया है ? तो कोई एक उत्तर देता है कि कर्मों से भरा हुआ लोक है ना, वह तब कर्म न बाँधे तो क्या होगा? लेकिन यह बात नहीं है। यह बताओ कि इस समय सिद्ध भगवान कहाँ विराजे है? इस लोक के भीतर या लोग के बाहर या लोक के अंत में है? लोक के बाहर केवल आकाश ही आकाश है, न वहाँ जीव है, न पुद्गल है न धर्म अधर्म है, न काल है। इस लोक में सर्वत्र कार्माणवर्गणायें बसी हुई है, जहाँ सिद्ध जीव विराजे है वहाँ पर भी ठसाठस अनन्त कार्माणवर्गणाएँ है और केवल कार्माणवर्गणा ही नहीं, वहाँ अनन्त निगोदिया जीव भी है, जो निगोदिया जीव इस जगत के निगोदियों की तरह ही दुःखी है, एक स्वास में १८ बार जन्म और मरण करते हैं उन निगोदियों में और सिद्ध भगवान की जगह में रहने वाले सूक्ष्म निगोदियों में दुःख का कोई अन्तर नहीं है, वे लोक में दुःखी है व सिद्ध वहाँ सुखी है। इसलिए लोकबन्धन का कारण नहीं है अथवा मुक्ति का कारण नहीं है।

मन वचन काय का परिस्पन्द कर्मबन्ध का अकारण—तब दूसरा कोई बोला कि वहां ये जीव मन, वचन काय की चेष्टाएँ करते हैं उससे बंध होता है तो जरा यह बतलाओ कि जो चार घातिया कर्मों का नाश करके अरहंत हुए है उन अरहंतों के क्या वचनवर्गणायें नहीं निकलती? दिव्य ध्वनि जो खिरती है उन अरहंत भगवान के क्या

शरीर की चेष्टाएँ नहीं होती? वे भी विहार करते हैं, उनके शरीर में जो द्रव्यमन रचा हुआ है क्या उस द्रव्यमन में कोई क्रिया नहीं होती ? होती ही है। उनके भी मनोयोग, वचनयोग और काययोग तीन योग पाये जाते हैं, वे सयोग केवली कहलाते हैं। अभी उनके तीनों योग है। दो मनोयोग है दो वचन योग है—औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, कार्माणकाययोग। ये तीन काय योग है, यो ७ योग माने गये हैं सयोगकेवली के। मन, वचन, कायकी चेष्टा उनके भी हो रही है, पर क्या कर्मबन्धन है? नहीं । इनके मन, वचन, काय की चेष्टा से कर्मबन्धन नहीं होता। अतः मन, वचन, काय की चेष्टा कर्मबन्ध का कारण नहीं है।

परमार्थतः परबंध बन्ध का अकारण—तब तीसरा बोला कि वाह इनके चलने फिरने से अथवा अन्य प्रकार से जीवों का घात होता रहता है तब इन्हें कर्मबंध कैसे नहीं होता? अच्छा बतलाओ कि जो साधु हो गए है, महाव्रत का जो-जो पालन करते हैं, समितिपूर्वक गमन करते हैं ऐसे साधु संत अच्छे काम के लिए अच्छे भाव सहित दिन में चार हाथ आगे जमीन देखकर ईर्या समिति से जा रहे हो और अचानक कोई कुन्थु जीव पैरों के नीचे आकर दबकर मर जाय तो क्या उन साधुओं के भी कर्म बंध होता है? परिणाम ही नहीं है उनका क्रूर कैसे बंधे कर्म? तो यह भी बात तुम्हारी युक्त नहीं है।

कर्मबन्ध का कारण—कर्मबंध का करने वाला केवल स्नेह भाव है। उपयोग में जो राग बस रहा है, मोह राग द्वेष चल रहा है यह ही कर्मबन्धन का कारण है । जो जीव रागद्वेष विभावों के साथ अपना एकीकरण करता है, राग करता है, यह मैं ऐसा ही हूं, राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप मेरा है ऐसा जो नहीं मान सकता है ऐसे पुरुष के बन्धन होता है। इस ही को ममत्व सहित पुरुष कहा गया है।

पर्यायव्यामोही के सकल विश्व के मोह का संस्कार—जो अपने शरीर में 'यह मैं हूँ' ऐसा अहंकार रखता है, ममकार रखता है उसने सर्वविश्व का अहंकार और ममकार किया है। यद्यपि इस मोही जीव के पास किसी के ५० हजार की विभूति हो, लाख की हो, कुछ सारा जगत का वैभव तो नहीं है। तो क्या उसे केवल ५० हजार में ही ममता है या लाख में ही ममता है ? इस अज्ञानी जीव को सारे विश्व में ममता है। न हो पास इसके और योग्यता भी विशाल न होने से अन्य विभावों की कल्पना भी न उठती हो तिस पर भी उसकी वासना में तीन लोक के वैभव के प्रति आत्मीयता बसी है अन्यथा उसके सामने रख दो और वैभव, क्या वह मना कर देगा कि अब मुझे न चाहिए? उसकी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती। मोह में सारे विश्व के प्रति ममता का परिणाम बसा हुआ है और इस कारण उसे समस्त जगत का बन्धन लग रहा है।

अध्यवसान में कर्मबंध की निरन्तरता—भैया ! पदार्थों में इष्ट अनिष्ट कल्पनाएँ होने से रागद्वेष का अस्तित्व आत्मा में अपना स्थान जमा लेता है और फिर यह उपयोग उन विभाव भावो के कारण विकृत हो जाता है, सर्व प्रकार से पर में तन्मय हो जाता है उस समय रागद्वेष परिणामरूप यह अध्यवसान भाव ही बंध का कारण

होता है। जो पुरुष यह मेरा यह दूसरे का है, इसका मैं मालिक हूं इसका दूसरा मालिक है—ऐसी रागबुद्धि बसाये, परमर्षि कहते हैं उनके शुभ अशुभ कर्म बँधते ही रहते हैं। कर्मबन्धन के लिए निमित्त चाहिए रागादिक भाव, उसके लिए हाथ कैसे चल रहे हैं यह निमित्त नहीं है, पैर कैसे उठ रहे हैं यह निमित्त नहीं है। पूजा भी करता हो कोई और परिणामों में विषयों के साधनों की बात बसी हो अथवा किसी पुरुष के प्रति बैर भाव बसा हो तो पाप का बंध हो जायगा। कर्म इस बात से नहीं अटकते हैं कि मंदिर में खड़े है तो हम इनके न बँधे, ये भगवान के समक्ष खड़े है इनके न बँधे, ऐसी अटक कर्मों में नहीं है। कर्मों के बन्धन का निमित्त तो रागद्वेष मोह अध्यवसान भाव है, वह हुआ तो कर्म बँध गया। चाहे वह तीर्थ क्षेत्र में हो, चाहे मंदिर स्थान में हो, चाहे वह साधुओं के संग में समक्ष में बैठा हो।

ममतारहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप की उपासना का अभिनन्दन—जिन पुरुषों के वैराग्य और ज्ञान का परिणमन चल रहा है उनके कर्म नहीं बँधते हैं, किन्तु अनेक कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हे क्योंकि उनके चित्त में शुद्ध कारण समयसार विराजमान है। वे चाहे किसी घर में खड़े हो, चाहे किन्ही वस्तुवों में गुजर रहे हो, किन्ही भी बाह्य परिस्थितियों में हो, जिन जीवों के रागद्वेषादिक भावों में अपनायत नहीं है, जो अपने सहजशुद्ध चैतन्यस्वरूप की उपासना करते हैं उन पुरुषों के कर्म नहीं बँध सकते। कर्मों का बन्धन अहंकार और ममकार परिणाम के कारण होता है। यह मैं हूं, यह मैं हूं, जो हर जगह में मैं-मैं बगराता है, हर जगह ममता करता है उसको कर्म बंधन तो होगा ही। रेल की सफर में जा रहे हो और किसी मुसाफिर से थोड़ा स्नेह हो जाय, थोडे वचनव्यवहार से तो इतने में ही बन्धन हो जाता है। जब वियोग होता है, किसी एक के उतरने का स्टेशन आ जाता है तो उसमें कुछ थोड़ा ख्याल तो जरूर आ जाता है। समस्त संकटो का मूल स्नेह भाव है। इस स्नेह में जो रंगा पँगा है वह बँध जाता है, और जो रागादिक भावो से भी न्यारा अपने आपको निरखता है, अपने को शुद्ध अकिञ्चन देखता है, मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप प्रतीति में लेता हे वह कर्मों से छूट जाता है। इस कारण मुक्ति चाहने वाले पुरुष को अपने को ममता रहित अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप को निरखना चाहिए।

श्लोक 27

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः।

बाह्यः संयोगजा भावाः मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।२७।।

ज्ञानी का चिन्तन—ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैं एक हूँ, अकेला हूँ अपनी सब प्रकार की सृष्टियों में-मैं ही एक परिणत होता रहता हूं। मेरा कोई दूसरा नहीं है। मेरा मात्र मैं ही हूं, निर्मम हूं। मेरे में ममता परिणाम भी नहीं है और ममता परिणाम का विषयभूत कोई पदार्थ मेरा नहीं हे। मैं शुद्ध हूं अर्थात् समस्त

परपदार्थों से विविक्त अपने आपके द्रव्यत्व गुण से परिणत रहने वाला हूं, योगीन्द्रों के द्वारा गोचर हूं। मेरा यह सहज आत्मस्वरूप योगीन्द्र पुरुषो के द्वारा विदित है। अन्य समस्त संयोगजन्य भाव मेरे से सर्वथा पृथक है।

नाना पर्यायों में भी आत्मा का एकत्व—यद्यपि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से यह जीव नाना रूप बनता है। मनुष्य बना, देव बना, नारकी हुआ, नाना प्रकार का तिर्यञ्च हुआ। नाना विभाव व्यञ्जन पर्यायें प्रकट हुई है फिर भी यह जीव अपने स्वरूप में एक ही प्रतिभासमान है, प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है। कोई पदार्थ हो वह है और उसकी कुछ न कुछ दशा है। पर्याय और द्रव्य इन दोनों से ही तदात्मक यह समस्त विश्व है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है कि वह केवल द्रव्य ही हो और उसमें परिणति कुछ न होती हो और न कोई पर्याय ऐसा है कि केवल पर्याय ही है उसका आधारभूत कोई-द्रव्य नहीं है, इसी कारण यद्यपि आत्मा की नाना स्थितियाँ होती है, ज्ञानादिक गुणो का परिणमन भी चलता है और व्यञ्जन पर्यायें भी नाना चल रही है तिस पर भी मैं सर्वत्र अकेला हूं।

व्यावहारिक प्रसंगो में भी एकाकित्व—व्यावहारिक प्रसंगो में भी मैं अकेला हूं। सुखी दुःखी भी मैं अकेला ही होता हूँ। जिस रूप भी परिणत होता हूं यह मैं अकेला ही। किन्ही भी बाह्य पदार्थों का ध्यान करके किसी विभावरूप परिणम जाऊँ, वहाँ पर भी यह मैं अकेला ही परिणत होता हूं, दूसरा कोई मेरे साथ परिणत नहीं होता। मैं सर्वत्र एक हूं। जो पुरुष अपने को एक नहीं निरख पाते हैं किन्तु मैं अनेक रूप हूँ, दूसरा कोई मेरे साथ परिणत नहीं होता। मैं सर्वत्र एक हूं। जो पुरुष अपने को एक नहीं निरख पाते हैं किन्तु मैं अनेक रूप हूँ, मेरे अनेक है, मुझे अनेक वस्तु शरण है, अमुक पदार्थ के होने से मेरी रक्षा है—इस प्रकार के विकल्पो से अपने एकत्व को भूलकर किन्ही बाह्य पदार्थों को लक्ष्य में लेकर मोहविकार रूप परिणमन में लगता है वह पुरुष संसार में ही भटकता है। एक अपने चैतन्यस्वरूप एकत्व को त्याग कर इसको उपयोग में न लेकर अब तक संसार में रुला हूँ।

श्रद्धान की कला से आनन्द या क्लेश की सृष्टि—जिस भव में गया उस ही भव में जो मिला उसमें ही ममता की, जो पर्याय मिली उस ही रूप अपने को माना। गाय, बैल, भैंसा हुआ तो वहाँ उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। देव नारकी हुआ तो वहाँ उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। मनुष्य भव में तो है ही, यहाँ ही देख लो, हम अपने निरन्तर मनुष्यता की प्रतीति रखते हैं मैं मनुष्य भी नहीं हूं, किन्तु एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन पदार्थ हूँ। ऐसी प्रतीति में कब-कब रहते हैं ? कभी नहीं। यदि ज्ञानानन्दस्वरूप की प्रतीति हो तो फिर आकुलता नहीं रह सकती है, आकुलता कहाँ है ? निराकुल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व को निरखें तो वहाँ आकुलता का नाम नहीं है। वह अपने स्वरूप से सत् है, समस्त परभावों से मुक्त है। यह मैं आत्मा निर्मम हूं। यहाँ शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व को निरखा जा रहा है, इसमें मिथ्यात्व, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कुछ भी परभाव नहीं है। स्वरसतः निरखा जा रहा है।

विभावों के सम्बन्ध के विवरण में एक दृष्टांत—यद्यपि वर्तमान में ये समस्त विभाव इस आत्मा के ही परिणमन है। रागी कौन हो रहा है ? यह जीव ही तो, परन्तु यह राग जीव में नहीं है, जीव के स्वभाव में राग नहीं है राग हो गया है। किसका बताएँ। जैसे जब दर्पण को देखते हैं तो उसमें सुख की छाया झलकती है, अब वहाँ यह बतलावो कि यह मुख के आकार का जो परिणमन है वह परिणमन क्या मुख का है अथवा दर्पण का है। दर्पण में जो मुंह का आकार बना है वह आकार यदि देखने वाले पुरुष का होता तो उसके शरीर में फिर मुंह ही न रहता क्योंकि उसका मुंह तो दर्पण में चला गया। दो मुंह तो नहीं है, हम आपका एक-एक ही तो मुंह लगा है। इसलिए वह दर्पण से हटा लो या मुंह को हटा लो वहाँ से तो कहाँ रहा मुंह का प्रतिबिम्ब? वह स्वच्छ का ही स्वच्छ है। जिस समय दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब झलक रहा है उस काल में भी ऐसा लगता है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पण के ऊपर लोट रहा है। दर्पण में थम कर नहीं रह पाता। वह दर्पण से पृथक है।

विभाव का किसी भी पदार्थ में टिकाव का अभाव—ऐसे ही जो रागद्वेष भाव उत्पन्न होते हैं आत्मा में, ये रागादिक भाव क्या कर्म के है? यदि कर्म के रागादिक होते तो कर्म दुःखी हो रहे हैं, फिर मुझ जीव को क्या पड़ी है कि व्रत करे, तप करें, साधना करे। ये रागादिक तो कर्मों में है, दुःखी हो तो कर्म दुःखी हो, पर ऐसा तो नहीं है। ये रागादिक भाव कर्म मे नहीं है, ये तो चेतन में ही परिणत हो रहे हैं, लेकिन क्या ये रागादिक इस चैतन्य के स्वभाव से उठे हुए है ? क्या इस जीव के स्वभाव में रागद्वेष करना पड़ा है ? इस तत्त्व को उसही दृष्टि में निहारे जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब की बात निरखी गयी थी। दर्पण में प्रतिबिम्ब डगमग डोलता रहता है। सामने मुख है तो दर्पण मे प्रतिबिम्ब है, मुख को थोड़ा एक तरफ किया तो वह दर्पण का प्रतिबिम्ब भी एक तरफ हो गया। मुख हटा लिया तो प्रतिबिम्ब हट गया, मुख दर्पण के सामने कर लिया लो प्रतिबिम्ब आ गया। क्या दर्पण की चीज इस तरह से अस्थिर होती है? जरा-जरा सी देर में बिल्कुल हट जाये, जरा सी देर में फिर आ जाय, क्या ऐसी बात दर्पण में पायी जाती है ? नहीं। यह दर्पण का प्रतिबिम्ब नहीं है, यह औपाधिक है। ऐसे ही ये रागद्वेष मेरे स्वरूप में नहीं है, ये औपाधिक है ये कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुए है, कर्मों का उदय है वह निमित्त है, जीव में वे रागादिक होते हैं ये रागादिक मानो आत्मा में ऊपर-ऊपर ही लोट रहे हैं। भीतर तो स्वरूप और स्वभाव ठोस रूप से बना हुआ है।

आत्मा में भेदषट्कारकता का अभाव—यह आत्मा ज्ञानघन है आनन्दघन है। जो इसका स्वरूप है वह इसके स्वरूप में स्वभाव में स्थिरता से है। रागादिक मुझ आत्मतत्त्व मे नहीं है। मैं निर्मम हूं, शुद्ध हूं। मैं हूं और परिणत हो रहा हूं, पर ये परिणमन, ये वर्तमान परिवर्तन किसके द्वारा हो रहे हैं, किसमें हो रहे हैं, किसके लिए हो रहे हैं ? यह भेद यहाँ नहीं है। बस ज्ञाताद्रष्टा बनो और यह निरख लो कि यह जीव है और इस तरह परिणम रहा है, वह दूसरे पदार्थ से नहीं परिणमता, वह दूसरे पदार्थ मे नहीं परिणमता। समस्त कारक चक्र की प्रक्रियायें इस आत्मतत्त्व में नहीं है यह मैं परमार्थतः जाननहार हूं, मैं जानता हूं, किसको जानता हूं? इस जानते

हुए निजस्वरूप को जानता हूं, किसी बाह्य पदार्थ को नहीं । जब यह जीव विकल्प करके किसी बाह्य पदार्थ को भी जान रहा है तो वहां भी यह बाह्य पदार्थों को नहीं जान रहा है किन्तु बाह्यपदार्थों के सम्बंध में अपने आपका उस तरह से ज्ञान प्राप्त कर रहा है।

पर के जानन का व्यवहार—मैं जानता हूँ किन्तु इस जानते हुए को ही जानता हूँ, किसी अन्य को नहीं जानता। भेदभाव में यह बात देर में बैठेगी पर एक युक्ति से देखो मैं जितना जो कुछ हूँ और जो यह मैं जो कुछ परिणम सकता हूँ वह अपने में ही परिणमूंगा किसी अन्य में नहीं। मेरी क्रिया, मेरी चेष्टा मेरे में ही होकर समाप्त होगी। जो कुछ भी मेरी क्रियायें है वे सब मेरे आत्मा मे ही होगी य अन्य मे होगी? तब इस बाह्य पदार्थ को वास्तव मे जाना कैसे? अपने आपको जाना है, पर उस जानन में जो बाह्य पदार्थ विषय होते हैं उनका नाम लगाया जाता है। जैसे एक लोक दृष्टान्त लो। हम दर्पण को देख रहे हैं, बड़ा दर्पण है, हमारी पीठ पीछे दो चार बालक खड़े है। उन बालकों के निमित्त से इस दर्पण मे भी उन जैसा प्रतिबिम्ब हो गया है। हम क्या कर रहे हैं ? केवल दर्पण को देख रहे हैं और बताते जा रहे हैं सब कुछ, अमुक लड़के ने हाथ उठाया, अमुक ने पैर उठाया, अमुक ने हाथ हिलाया, उन लड़कों की सब बातें हम कहते जाते हैं, जानते जाते हैं, पर हम देख रहे हैं केवल दर्पण को । तो जैसे हम केवल दर्पण को देख रहे हैं पर बातें सब लड़कों की बता रहे हैं इसी प्रकार हम केवल ज्ञानमयी आत्मा को जान रहे हैं और बातें बताते हैं दुनियाभर की । पूर्व जो की, इतिहास की, लोक की स्थिति की, क्षेत्र की। सभी प्रकार की बातें बताते हैं, पर हम जान रहे हैं केवल अपने आत्मा को।

ज्ञाता में ज्ञान का चमत्कार—कैसा विशाल चमत्कार है, कैसा ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है कि यह केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व को जान रहा है और बखान करता है अनेक पदार्थों का। मैं ऐसा शुद्ध हूँ, मैं जो कुछ करता हूँ, अपने को, अपने से, अपने में, अपने लिए अथवा करने का कुछ नाम ही नहीं है। मैं जो कुछ भी हूं, बर्त रहा हूं उतना ही मात्र द्रव्य पर्यायात्मक सम्बंध है। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा के स्वरूप को निरख रहा है, मैं शुद्ध हूं। स्वभाव पर दृष्टि देकर यह बात समझी जा रही है कि मैं अपने आप अपनी ही सत्ता के कारण अपने में शुद्ध हूं, ज्ञानमय हूं।

पदार्थों का पर के द्वारा अभेद्य स्वरूप—भैया ! जितने भी पदार्थ होते हैं सबमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरूलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रमेयत्व ये ६ गुण होते हैं। अस्तित्व के कारण ये पदार्थ सत् है, इनमें है पना है, इनका अस्तित्वपना है वह अस्तित्व गुण का काम है। वह पदार्थ वही रहे, दूसरा न बन जाये, दूसरे रूप न हो जाय, अपने मे ही सत् है, पर से असत् है, ऐसा नियम वस्तुत्व गुण से हुआ है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे, परिणमन को छोड़कर वह विश्रांत नहीं हो सके, यो द्रव्यत्व गुण के कारण यह निरन्तर परिणमता रहता है। अगुरूलघुत्व गुण से यह नियम बन जाता है कि यह पदार्थ अपने में ही परिणमेगा, किसी दूसरे में न परिणमेगा।

प्रदेश इसमें है ही और प्रमेय भी है, इस प्रकार आत्मा में सभी पदार्थों की भाँति ये ६ गुण है, इसके अतिरिक्त सूक्ष्मत्व आदि अनेक गुण है किन्तु कल्पना करो कि इस आत्मा में ज्ञान गुण न होता और बाकी गुण होते तो क्या स्थिति होती? क्या हो सकता था कुछ? नहीं । यो आत्मा ज्ञानमयी है, ज्ञानघन है, ज्ञानात्मक है। इस अंतस्तत्व को अध्यात्मयोगी पुरुष ही जान सकता है। जिन्होंने पर को पर जानकर निज को निज जानकर परपदार्थों के विकल्पो को तोड़ा है और केवल अपने आपके स्वरूप में ही रत रहा करते हैं ऐसे पुरुषो को ही इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप का दर्शन होता है और इस चित् चमत्कार के अनुभव से ही यथार्थ मर्म को समझते हैं एवं विश्व के समस्त प्राणियों को एक चैतन्य के रूप में देखा करते हैं।

संयोगज भावों की आत्मस्वरूप से भिन्नता—यह मैं यथार्थ शुद्ध केवल आत्मा केवल योगीन्द्रों के द्वारा ही परिचय में आ सकता हूं। अज्ञानी जन अपने आप की बात को नहीं समझते हैं। ऐसा यह मैं आत्मा सबसे विविक्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, जितने भी बाह्य भाव है, रागद्वेषादिक है, वे सब संयोगी भाव है। कर्मों के सम्बंध से यह भाव बनता है, जिसको यह प्रतीति नहीं है कि ये भाव सब संयोगी है, मरे स्वरसतः होने वाले नहीं है, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। जिन अपराधो से मुक्त होना है उन अपराधो का मेरे में वस्तुतः प्रवेश नहीं है। मेरे स्वयं के उन अपराधो का भान हुए बिना कैसे मुक्ति प्राप्त हो सकेगी? समस्त ये औपाधिक भाव, संयोगभाव मेरे से सर्वथा स्वभावतः दूर है। यह सब जानकर कर्तव्य यह है कि जो उपादेय है उसे ग्रहण करें और जो हेय है उसका परिहार करे। उपादेय है यहाँ अपने आपका यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव। तन्मात्र ही अपने को अनुभवे तो वहाँ संकटो का नाम ही नहीं है। जहाँ इस निर्विकार स्वरूप से चिगे और संयोग लक्षण बाले इन जड़ पदार्थों में ममत्व बुद्धि की, संकट वही से बन जाते हैं।

प्रधान और गौण कर्तव्य—उद्देश्य जीवन में एक प्रधान होता है और एक गौण होता है जैसे किसको मकान बनवाना है, तो मकान बनवाने का उद्देश्य तो प्रधान है और उस मकान बनवाने के प्रसंग में अनेक काम किए जाते हैं, जैसे ईटें खरीदना है, सीमेन्ट का परमिट बनवाना है, अमुक वस्तु लेना है, मजदूरों को इकट्ठा करना है, ये सब रोज-रोज प्रोग्राम बनते हैं, पर ये प्रधान उद्देश्य तो इसका एक है, जो भी इसने सोचा है। ऐसा ही ज्ञानी पुरुष का मुख्य उद्देश्य केवल एक ही होता है - निरपराध ज्ञानानन्दस्वरूप निज कारण प्रभु का दर्शन करना, चिन्तन और मनन करना। इसके अतिरिक्त इसकी ही साधना के लिए दर्शन पूजन स्वाध्याय, जाप, सत्संग आदिक जितने भी प्रयोग है वे सब प्रयोग केवल एक इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए है, वे मुख्य उद्देश्य नहीं है, वे सब गौण है। हमारा मुख्य उद्देश्य है संयोगजन्य भाव से मुक्त होकर सहज आनन्दस्वरूप में मग्न रहना, इसकी उपलब्धि जैसे हो इसका प्रयत्न करना यह हमारा गौण प्रोग्राम है।

ज्ञानी का निर्णय—ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूप का निर्णय कर रहा है। मैं एक हूं, अपने लिए मैं अद्वैत हूँ। अपनी सब स्थितियों में मैं-मैं ही हूं। मेरा कोई दूसरा शरण अथवा साथी नहीं है समस्त कामनावों से रहित

हूं। ज्ञानानन्दघन अध्यात्मयोग द्वारा मैं सर्व परपदार्थों में उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप हूं। इस ही तत्त्व की आराधना के प्रसाद से भगवान अरहंत हुए है। जिनका हम पूजन वंदन करते हैं। उनकें और कला ही क्या थी जिससे वे आज हम लोगो के पूज्य कहलाते हैं, वह कला है स्वभाव दर्शन की कला। वे अपने इस चित्स्वभाव में मग्न हुए थे, उसके ही प्रसाद से भव-भव के संचित उनके कर्म जाल नष्ट हुए और अनन्त चतुष्टयसम्पन्न सर्व भव्य जीवों के उपास्य हुए, ऐसा होने का मेरे में स्वभाव है। ज्ञानी संत इस स्वभाव की उपासना किया करते हैं।

श्लोक 28

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।

त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः।।२८।।

ज्ञानी सकल संन्यास का चिंतन—ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है और संकल्प करता है कि इस प्राणी को जितने भी क्लेश समूह का भाजन होना पड़ा है वह सब इस शरीर आदि के संयोग से ही होना पड़ा है। इस कारण मैं मन से, वचन से और काय से इन समस्त समागमों को छोड़ता हूं। मैं भी अमूर्त ज्ञानानन्दमय केवल अपने स्वरूप मात्र हूं। इस मुझ आत्मतत्त्व में किसी दूसरे पदार्थ का सम्बंध भी नहीं है। ऐसी दृष्टि हो जाय और समस्त बाह्य पदार्थों से उपेक्षा हो जाय तो यही उनका छोड़ना कहलाता है। इसमें कषाय की बात कुछ नहीं है। जैसे कोई लोग कहें कि वाह ! मानते जावो ऐसा कि मैं सबसे न्यारा हूं। और छोड़ो कुछ भी नहीं। यहाँ कुछ भी छल की बात नहीं है, केवल ऐसा अनुभव में उतर गया कि मैं सबसे विविक्त हूं तो उसने सबको छोड़ दिया। अब ऐसी प्रतीति बहुत काल तक बनी रहती है तो बहुत काल तक छूटा हुआ रहेगा और कुछ ही क्षण बाद पूर्व वासना के कारण फिर उनमें चित्त गया तो वह ग्रहण का ग्रहण ही है।

आनंद का भेदविज्ञान—भैया ! जितना भी आनन्द मिलेगा प्रत्येक जीवको वह भेदविज्ञान से ही मिलेगा। भेदविज्ञान बिना आनन्द मिलने का अन्य कोई उपाय ही नहीं हे लोक में कही ऐसा नहीं है कि धनिकों को करोड़ों के धन वैभव से आनन्द मिल जायगा और गरीबों को भेदविज्ञान से आनन्द मिलेगा। जिन्हें भी आनन्द मिलेगा भेदविज्ञान से ही मिलेगा, चाहे अमीर हो चाहे गरीब। कारण यह है कि आनन्द में बाधा को डालने वाला विकल्प हुआ करता है और विकल्पों की उत्पत्ति होने के लिए परपदार्थ आश्रय होता है। बाह्य साधन तो जिसको जितने मिले हैं, उसे प्रायः उतने विकल्प बढ़ेंगे, और जिसके विकल्प बढे हुए है उन्हें आनन्द न मिलेगा। समागम हो तब भी, न हो तब भी, आनन्द तो भेदविज्ञान से ही मिलेगा। लोग कभी-कभी अपने में बड़ा झंझट समझते हैं। मैं बहुत चक्कर में पड़ गया, मुझे इतना क्लेश है। अरे ये सारे क्लेश समस्त संकट भेदविज्ञान के उपाय से सबसे न्यारा अपने को मान लेने से मिट जाते हैं। सबका विकल्प तोड़ने से अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव होने पर सारे संकट समाप्त हो जाते हैं।

प्रभु का आदर्श व आदेश—जिनके संकट समाप्त हो चुके हैं ऐसे प्रभु भगवान का यह उपदेश है कि जिस उपाय से हम संकटों से मुक्त हुए है इसी उपायों भव्यजन करेंगे तो संकटों से छूटने का अवसर पावेंगे। संकटों से छूटने का उपाय भेदविज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है। एक ही निर्णय है। कही ऐसा अनियम नहीं है किसी को धन से आनन्द मिलता हो, किसी को इज्जत मिलने से आनन्द मिलता हो, किसी को अनेक काम मिलने से आनन्द मिलता हो, किसी को अच्छा परिवार रहने से आनन्द मिलता हो, जिसे भी आनन्द मिलेगा वह भेदविज्ञान से मिलेगा।

मिथ्या आशय में क्लेश की प्राकृतिकता—जो जीव शरीरादिक से अपने को अभेदरूप से मानता है, अर्थात यह मैं हूँ ऐसी उनमें आत्म कल्पना करता है उस शारीरिक कष्ट भी होता है, मानसिक कष्ट भी होता है और क्षेत्र समागम आदि के कारण भी कष्ट हो जाता है। मिथ्या धारण हो, प्रतीति हो वहाँ दुःख होना उस मिथ्या श्रद्धान के कारण प्राकृतिक है। दुःख किसी परवस्तु से नहीं होता, दुःख भी अपने आपकी कल्पना से, मिथ्या धारणा से होता है। सारी चीजें अनित्य है। जो घर मिला है, घर में जो कुछ है, जितना संग जुटा है वह सब अनित्य है। उन्हें कोई नित्य माने और ये मोही मानते ही है। ये दूसरे के समागम को तो अनित्य झट समझ लेते हैं, ये समागम मिट जायेंगे, मर जायेंगे लोग, कोई न रहेंगे यहाँ, किन्तु अपने समागम के सम्बंध में यह विशद बोध नहीं है कि यह भी मिट जायगा। यदि यह ध्यान में रहे कि यह सब मिट जायगा तो फिर इसकी आसक्ति नहीं रह सकती है। इसने अनित्य को नित्य मान लिया, इसी से आफतें लग गयी।

भ्रांति में उलझन और निभ्रान्ति में सुलझन—भैया ! अनित्य को नित्य मानने के विकल्प में एक आपत्ति तो यह है कि जब मान लिया कि ये सदा रहेंगे तो उनके बढ़ावा के लिए, संग्रह के लिए, जीवनभर इसे श्रम की ज्वाला में झुकना पड़ता है। दूसरी आपत्ति यह है यह अनित्य को नित्य मान लेने से तो कही यह जगजाल नित्य तो नहीं हो जाता। बाह्यसमागम तो अपनी परिणति के माफिक बिछुड़ जायेंगे। यह मिथ्यादृष्टि जीव अनित्य को नित्य मानता है, सो जो वियोग होता है तब उसके वियोग में दुःखी होता है। यदि अनित्य को अनित्य ही मानता होता तो उसमें लाभ था। पहिला लाभ यह कि इन बाह्य पदार्थों के संचय के लिए अपना जीवन न समझता और श्रम में समय न गंवाता और दूसरा लाभ यह होता कि किसी भी क्षण जब ये समागम बिछुड़ते तो यह क्लेश न मानता।

अज्ञान के फल फूल—जितने भी लोग घर में बस रहे हैं, जिन दो एक प्राणियों से सम्बन्ध मान रखा है, उनका वियोग जरूर होगा। पुरुष स्त्री है, कभी तो वियोग होगा ही। पुरुष का भी वियोग पहिले सम्भव हो सकता है और स्त्री का भी वियोग पहिले सम्भव हो सकता है। वियोगकाल में कष्ट मानेंगे। यह बात प्रायः सभी मनुष्यों पर गुजर रही है। जब तक मन के प्रतिकूल कोई घटना नहीं आती है, मौज में समय कट रहा है और यह बीता हुआ समय जाना भी नहीं जा रहा है मेरी इतनी आयु हो गयी है कुछ जाना ही नहीं जाता है लेकिन

सभी जीव चाहे बडे यशस्वी हो सभी पर यह बात आयगी। जो समागम मिला है वह किसी दिन आवश्य बिछुड़ेगा। अब जब बिछुड़ेगा तो वही-वही क्लेश जो औरों के आता है, इसे भी आयगा। तो जो पदार्थ जैसा नहीं है वैसा मानना अर्थात् वस्तुस्वरूप से उल्टी धारणा बनाना, इसमें दुःखी होना प्राकृतिक बात है। इस ही वैभव के ममत्व के कारण दुःख है। किसी अन्य पदार्थ के होने अथवा न होने से दुःख नहीं है। इस संसार की जड़ अज्ञान है। कितने ही लोग तो इस संसार पर दया करके कह देते हैं कि लो सभी लोग ब्रह्मचारी हो गए तो संसार कैसे चलेगा? सभी ज्ञानी वैरागी हो गए तो संसार की क्या हालत होगी? उनको संसार पर तरस आती है, दया आती है। कही संसार की वृद्धि में बाधा न हो, देखा इस अज्ञानी का बहाना।

ज्ञान, वैराग्य से क्लेश क्षय—बहुत तीक्ष्ण धारा है इस कल्याणमार्ग की, किन्तु जो इस ज्ञानवैराग्य की धारा पर उतर गया और निरूपद्रव पार कर गया वह संकटो से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जितने भी यहाँ क्लेश है वे सब मन, वचन, काय की क्रियाओं के अपनाने में है। इस जीव ने मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति की, उससे आत्मयोग हुआ, प्रदेश परिस्पंद हुआ, कर्मों का आस्रव हुआ और साथ ही इसमें मिथ्या आशय और क्रोधादिक कषायों से कर्मों का बंध हुआ। अब ये बद्ध कर्म जब उदयकाल में आता है, आये थे तब इस जीव को विभाव परिणति होती है व हुई और चक्र की तरह ये भावकर्म द्रव्यकर्म चलते ही रहे। उनके फल में सुखी दुःखी होना, इष्ट अनिष्ट लगना सब दुःख परम्परायें बढ़ती चली आयी। सो सारे दुःख का झगड़ा लो यों मिट जायगा कि इस मन को, वचन को, और काय को अपने से भिन्न मान ले। ऐसा भिन्न मानने में यह धीर साहसी आत्मा उस विपदा के पहाड़ के नीचे भी पड़ा है तब भी बलिष्ठ है, उसे रंच भी श्रम नहीं होता है।

भेदाभ्यास के बिना संकट विनाश का अभाव—इस जीवका संसरण तब तक है जब तक मन, वचन, काय को अपना रहा है। कितना क्लेश है? किसीने प्रतिकूल बात कही, निन्दा की बात कही तो यह चित्त बेचैन हो जाता है। क्या हुआ किसी ने कुछ उसे कहा ही न था। वे वचन भी मायारूप, वह कहने वाला भी माया रूप, यह सोचने वाला भी माया रूप, और उस आत्मा की प्रवृत्ति से वचन भी नहीं निकलते निमित्तनैमित्तिक सम्बंध में उन वचन वर्गणावों से वचन परिणति हुई और वे वचन मुझमें किसी प्रकार आ ही नहीं सकते। यह प्रभुरूप है इसलिए जान लिया इसने सब। अब राग से प्रेरित होकर कल्पना मचाता है। उसने हमें यो कह दिया ! उन कल्पनावों में परेशान हो जाता है। एक यह निर्णय बन जाय कि यह शरीर ही मैं नहीं हूं फिर सम्मान अपमान कहाँ ठहरेंगे? मन, वचन, काय इन तीनों को जो त्याग देता है, इनसे भिन्न केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपमात्र अपने की निरखता है तो इस भेद के अभ्यास से इस जीव को मुक्ति होती है।

भ्रम में अशांति व अस्थिरता—भैया ! जब तक भ्रम लगा है तब तक चैन नहीं हो सकती। कोई कितना ही प्रिय मित्र हो, किसी प्रवृत्ति को देखकर भ्रम में यह बात बैठ जाय कि अब अमुक तो मेरे विरोध में है, तो इस विरोध मान्यता की भावना से यह बेचैन हो गया। विरोध उपयोग में पड़ा हुआ है इसलिए उस मित्र की सारी

चेष्टाएँ विरोधरूप दिखती है, इससे विरोध भावना और बढ़ जाती है, चैन नहीं मिलती है भ्रम में। फिर यहाँ तो आत्मा का भ्रम हो गया, पूरा मिथ्या आशय बन गया है। जो मैं नहीं हूँ उसे मानता है कि यह मैं हूँ। बस इस आशय से ही क्लेश हो गया, किसी एक बात पर थमकर ही नहीं रहता यह मोही जीव। किसी को अपना मानता है तो उस ही को अपना मानता रहे, देखो किसी दूसरे को अपना न माने, जरासी दृढ़ता कर ले, पर मोह में यह भी दृढ़ता नहीं रहती है। सच बात हो तो दृढ़ता रहे। झूठ बात पर टिकाव कैसे हो सकता है?

पर्याय में मोह की अदल बदल—यह मोही जीव इस देह को आत्मा मानता है तो देखो इस देह को ही आत्मा मानते रहना, फिर कभी हट न जाना अपनी टेक से। अहो हट जाता है टेक से। मृत्यु हुई, दूसरा शरीर धारण किया, अब उस शरीर को अपना मानने लगा। आज कैसा सुडौल है, अच्छे नाक, आँख, कान है और मरकर मगरमच्छ बन गये तो उस थावाथूल शरीर को ही अपना सर्वस्व मानने लगा। जीव मैं वही हूँ। अब जिस पर्याय में गया उसको ही मैं माना। इस मनुष्य को ये भैंसा, बैल, सूकर, कूकर आदि न कुछ से विचित्र मालूम होते हैं बेढंगे कहाँ से हाथ निकल बैठे, और कैसा पूरे अंगों से चल रहे हैं। सब बेढंगे मालूम होते हैं, सम्भव है कि इन सूकर, कूकर, गाय, भैंसों को भी यह मनुष्य बेढंगा मालूम होता होगा। जिसको जो पर्याय मिली है उसको वह अपनी उस ही पर्याय को सुन्दर सुडौल ढंग की ठीक मानता है, उसके अतिरिक्त अन्य देह आकार ढांचे तो बेढंगे मालूम होते हैं।

कुटेव में स्थिरता व शांति का अभाव—यह जीव किसी एक बात पर थमकर ही नहीं रहता। चाहे तुम धन को प्रिय मानते हो, सर्वस्व मानते हो तो मानते ही रहो, देखो टेक से हट मत जाना। लेकिन अपने शरीर में कोई व्याधि हो जाय या कुटुम्ब के लोग कोई विपत्ति में पड़ जाये तो उस ही धन को बुरी तरह खर्च कर डालते हैं। यह टेक नहीं निभा पाता, किसी भी चीज में स्थिर नहीं हो पाता। यह अनेक इन्द्रिय विषयसाधनों को ग्रहण कर करके डोलता है, दुःखी रहता है। यह जीव संसार में तब तक भ्रमण करता रहता है जब तक मन, वचन, काय को यह मैं ही हूँ ऐसी प्रतीति रखता है।

भेदप्रयोग—भैया ! यह भ्रमबुद्धि दूर हो, शरीर मैं नहीं हूं ऐसी प्रतीति करे, छोड़ा तो जा सकता है शरीर का ध्यान, न शरीर को, ज्ञान में ले। यह जाननहार ज्ञान स्वयं क्या है, इसका स्वयं का स्वरूप क्या है, यह बुद्धि लायें तो क्या लायी नहीं जा सकती? छोड़ दो इस शरीर का विकल्प। वचनों का भी विकल्प त्यागा जा सकता है। पर काय के विकल्प से कठिन वचन का विकल्प है। ये दोनों भी त्यागे जा सकते हैं, पर मनका विकल्प सबसे कठिन है। काय के विकल्प से कठिन वचन का विकल्प और वचन के विकल्प से कठिन मनका विकल्प है। कुछ-कुछ ध्यान में तो बनाया जा सकता है। शरीर मैं नहीं हूं। कोई जाननहार पदार्थ मैं हूँ, वचन भी मैं नहीं हूं, कोई ज्ञान प्रकाश मैं हूँ, पर चित मन जो अंतरंग इन्द्रिय है, जिसका परिणमन ज्ञानविकल्प में एकमेक चल रहा है उस मन से न्यारा ज्ञानप्रकाश मात्र मैं हूँ, ऐसा अनुभव करना कठिन हो रहा है। लेकिन यह

मनोविकल्प जिसके कारण सहज आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं हो पाता है यह भी भ्रम है, मनोविकल्प का अपनाना यह भी कष्ट है जो जीव काय से, वचन से और मन से न्यारा अपने आपको देखता है, वह संसार के बंधन से छूटकर मुक्ति को पाता है।

विभक्त आत्मस्वरूप की भावना—इन जीवों को यहाँ की बातें बहुत बड़ी मीठी लगती है, पर एक बार सभी झंझटों से छूटकर शुद्ध आनन्द में पहुंच जाय तो यह सबसे बड़ी उत्कृष्ट बात है। जो सदा को संकटों से छुटाने का उपाय है उस उपाय का आदर किया जाय तो यह मनुष्य जीवन सफल है, अन्यथा बाह्य में कुछ भी करते जावो, करता भी यह कुछ नहीं है, केवल विकल्प करता है। कुछ भी हो जाय बाह्य पदार्थ में किन्तु उससे इस आत्मा का भला नहीं है। समस्त प्राणियों को मन, वचन, काय के संयोग से ही दु:ख समूह का भाजन बनना पड़ा है। अब मैं मन से, वचन से, काय से अर्थात् बड़ी दृढ़ता से इन सबका परित्याग करता हूं, और मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं इस अनुभव में बसूँगा, ऐसा ज्ञानी यथार्थ चिन्तन कर रहा है और अपने आपको सर्व विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अनुभव करता है।

श्लोक 29

न म मृत्युः कुतो भीतिर्न में व्याधिः कुतो व्यथा।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

ज्ञानी के मरणभय का अभाव—मेरे मृत्यु नहीं है, फिर मेरे भय कहाँ से पैदा हो? जब मेरे मे व्याधि ही नहीं है तो व्यथा कहाँ से बने? मैं बालक नहीं, वृद्ध नहीं और जवान भी नहीं हूं। ये सब दशायें पुद्गल में होती है।

ज्ञानी के मरणभय का अभाव—जिस जीवको अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का निश्चय हो जाता है उस जीव के मृत्यु नहीं होती है। ये बाह्य प्राण, इन्द्रियबल, कायबल, आयु, श्वासोच्छवास मिट जाते हैं, परन्तु मैं नहीं मिटता। ये विकारभाव है। लोक में इन प्राणों के वियोग का नाम मरण कहा है किन्तु वास्तवमें प्राणों के दूर हो जाने पर उसका विनाश नहीं होता है। मैं मृत्यु रहित हूं। शरीर मुझसे भिन्न है, विपरीत स्वभाव वाला है। यह मैं परमार्थ चैतन्यतत्त्व हूं। इसका कभी विनाश नहीं है, शरीर का विनाश है। शरीर का वियोग शरीर का बिछुड़ना शरीर की स्थिति है, जीव की नहीं है। आत्मा का स्वरूप आत्मा का प्राण ज्ञानदर्शन है, चैतन्यस्वरूप है, उसका कभी भी अभाव नहीं होता है, इस कारण जीवका कभी मरण ही नहीं है, यह निर्भय निःशंक रहता हुआ अपने स्वरूप का अनुभव कर रहा है। मरण नाम है आगे जन्म होने का। नवीन जन्म लेने का नाम मरण है। जिसका नवीन जन्म नहीं होता ऐसे अरहंत भगवान का मरण भी नहीं कहा जाता है। उसका नाम है निर्वाण। जिसके बाद जन्म हो उसका नाम मरण है। इस आत्मा का न कभी जन्म है न कभी मरण है। अपने सहजस्वरूप को दृष्टि में लेकर चिन्तन करिये। यह शरीर जिसमें बँधा हुआ है। यह शरीर मेरा साथी नहीं है, मेरा कुछ भी

आत्मतत्त्व नहीं है। शरीर की बात शरीर में है, मेरी बात मुझमें है। यह मैं आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्रभु की तरह प्रभुता से भरा हुआ हूं। स्वरसतः अनन्त चतुष्टयात्मक आत्मसमृद्धि सम्पन्न मैं आत्मा हूं। इसमें कहाँ भय है?

मोहियों का विकट भय—सबसे विकट भय जीव को मरण का रहा करता है। कोई पुरानी बुढ़िया जो रोज-रोज भगवान का नाम इसलिए जपे कि भगवान मुझे उठा ले अर्थात् मेरी मौत हो जाय, होगा कोई दुःख। और कदाचित् सांप सामने आ जाय तो वह अपने छोटे पोतों को पुकारती है कि बेटा बचावो सांप आया है, और बेटा अगर कह दे कि तुम तो रोज भगवान का नाम जपती थी भगवान मुझे उठा ले, सो भगवान ने ही भेजा है यह, अब काहे को बुलाती है हमें? लेकिन मरण का भय सबको लगता है।

आत्मज्ञान में भय का अभाव—जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो जानते हैं कि यह शरीर नहीं रहा, यह धन वैभव सम्पदा नहीं रही, लोगों में मेरी उठा बैठी न रही तो क्या है, ये तो सब मायास्वरूप है। मैं आत्मा सत् हूं, मेरा सुख दुःख आनंद सब मेरी करतूत के आधीन है, यहाँ के मकान सम्पदा मेरे आधीन नहीं है। यों आत्मतत्त्व का चिन्तन हो तो उसे भय नहीं रहता। भय की चीज तो यही समागम है। जिसके पास वैभव है उसको भय है, जिसके समीप कोई वैभव ही नहीं है भले ही वही अन्य जाति का दुःख माने, पर उसे कुछ भय तो नहीं है। न चोर का, न डाकू का, न किसी का छल का, कोई प्रकार का उसे डर नहीं है। बाह्य चीजों से निर्भयता नहीं आती है किन्तु आत्मज्ञान के बल से निर्भयता प्रकट होती है। क्या है, न रहा यह तो क्या बिगड़ गया? इससे भी बहुत अच्छी जगह है दुनिया में। यहाँ न रहा और जगह पहुंच गया, क्या उसका बिगाड़ है? यों जो अपने शुद्ध सत्त्व का चिन्तन करता है उस तत्त्वज्ञानी पुरुष को भय नहीं होता।

वस्तु के प्राणभूत स्वरूप का विनाश—मेरा प्राण मेरा ज्ञान दर्शन है, मेरा चैतन्यस्वरूप है। प्राण उसे कहते हैं कि जिसके वियोग होने पर वस्तु खत्म हो जाय। जैसे अग्नि का प्राण गर्मी है। गर्मी निकल जाय तो अग्नि खत्म हो जाती है, उसका सत्त्व ही नहीं रहता है। ऐसा मेरा कौनसा प्राण है जिसके निकलने पर उसका सत्त्व नहीं रहता है? यद्यपि ऐसा होता नहीं। जिस पदार्थ का जो सत् है वह तीन काल भी नहीं छूटता है। अग्नि तो कोई पदार्थ है नहीं, वह तो पुद्गल पर्याय है। अग्नि तो परिणति है। परिणति का वस्तुतः क्या प्राण बताये? पदार्थ का प्राण बताया जाता है, मेरा कभी भी मिट नहीं सकता, इस कारण यह मैं आत्मा अमर हूँ। क्या मेरे भय है?

ज्ञानी देहव्यथा का अभाव—ज्ञानी पुरुष को शारीरिक पीड़ा की भी शंका नहीं रहती है। मैं आत्मा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप ज्ञानानन्द प्रकाशमात्र हूं, इस मुझ आत्मा में व्याधि कहाँ है? यहाँ कोई ऐसा सोच सकता है कि जब तबीयत अच्छी होगी तब यह बात कही जाती। जरा सिरदर्द हो जाय या कुछ बात आ जाय फिर यह बात भूल जाती है, भूल जावो, फिर भी जिसे तत्त्वज्ञान है, वह व्याधियों के समय में भी आकुलित नहीं होता है,

सब आपदाओं को धीरता से सहन करता है, और जिनके तत्त्वज्ञान की परिपूर्णता है उनको यह भी विदित नहीं हो पाता कि इस शरीर पर कोई बैठा भी है। यह शरीर मुझसे पृथक् है। यह मैं आत्मा जब शरीर की और दृष्टि देता हूं तो इस शरीर की व्यथाएँ मुझे विदित होती है अन्यथा नहीं। मेरे कोई व्यथा नहीं है। मैं आनन्दमग्न हूं।

आत्मा में देह दशाओं का अभाव—मैं बालक नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूँ और जवान भी नहीं हूं। किसका नाम बालक है? शरीर की ही प्रारम्भिक अवस्था को बालक कहते हैं। यह बालपन पुद्गल में ही हुआ। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है। शरीर की जो मध्यम परिस्थिति है उसे जवानी कहते हैं, यह जवानी शरीर में होती है शरीर का धर्म है। आत्मा का तो गुण है नहीं। शरीर की ही परिपक्व दशा व उत्तरदिशा बुढ़ापा कहलाता है। यह बुढ़ापा भी मुझे आत्मा में नहीं है। यह मैं आत्मा तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष मिले हुए सब समागमों को अपने से पृथक निहारता है। जब आत्मा को यह निश्चय हो जाता है कि तू चेतन हे, ज्ञान दर्शन आदिक गुणों का अखण्ड पिण्ड है तो इस ज्ञान आदिक गुणों का कभी विनाश नहीं होता, ऐसी दृष्टि बनती है यही तो मेरी आत्मनिधि है। जो मेरे स्वरूप में है वह कभी मिट न सकेगा, जो मुझमें है वह मुझसे कभी अलग होता नहीं जो मुझमें नहीं है वह कभी मुझमें आता नहीं है।

परपदार्थ का आत्मा में अत्यन्ताभाव—दृश्यमान समस्त परिणतियाँ दृश्यमान समस्त पदार्थ तेरे कुछ नहीं है, न तू उनका कभी हुआ है और न कभी हो सकता है पर से तू त्रिकाल भिन्न है। है उदय पुण्य का, ठीक है, किन्तु क्या वैभव में तू एकमेक बन सकता है? तू-तू ही है, अन्य-अन्य ही है। कर्मोदयवश कुछ दिनों का यह साधन संयोग बन गया है। जैसे सफर करते हुए किसी सराय में एक जगह ठहर जाते हैं। अन्य-अन्य देशों से आये हुए कुछ पुरुष, पर वे कुछ समय के लिए ही ठहरे है, एक दूसरे का जो संयोग बन गया है वहाँ वह कुछ समय के लिए ही बना है। कुछ समय ही बाद अथवा प्रातःकाल होते ही सब अपने-अपने अभिमत देशों को चले जाते हैं। रास्ता चलते हुए सराय में मनुष्य रात भर ही टिकते हैं, दिन को नहीं रहते हैं, प्रातः काल हुआ कि रास्ता नापने लगते हे। ऐसे ही यहाँ कुछ समय का मेल है, मोही जीव इस कुछ समय के मेल में ही ऐसी कुटेव ठान लेते हैं कि यही तो मेरे सब कुछ हैं। मेरा मरना जीना इन्हीं के लिए तो है ऐसा मोह भाव बसाकर अपने आपको दुर्गति का पात्र बना लेते हैं।

नीरोग ज्ञानस्वरूप का चिन्तन—शरीर में नाना रोग होते हैं। वे शरीरके विकार से होते हैं। वात, पित्त, कफ— ये तीन जो उपधातुयें है, इनका जो समान अनुताप से रहना है उसमें भंग हो जाय, विषमता आ जाय तो इस शरीर में रोग पैदा हो जाता है। यह शरीर ही मैं नहीं हूं तो मैं रोग का क्या अनुभव करूँ ? ज्ञानी पुरुष निरन्तर निज ज्ञानस्वरूप का ही चिन्तन करते हैं।

धन जीवन विषयक मोह के अभाव में कर्मफल का अनुभव—जगत के जीवों को ये कर्म सता रहे हैं। केवल दो बातों पर ये कर्म सता रहे हैं। यदि उन दो बातों का मोह न रहे तो फिर कर्मों का सताना ही कुछ न ठहरे। वे दो बातें है धन और जीवन। जीवन का लोभ और धन का लोभ ये दो लोभ है तब कर्म सता रहे हैं, न रहे ये तो कर्म क्या सतायेंगे? जैसे कोई पक्षी कहीं से कुछ खाने की चीज चोंच में ले आये तो उसे देखकर बीसों पक्षी उस पक्षी के ऊपर टूट पड़ते हैं। वह पक्षी अपनी जान बचाने को तरसने लगता है। अरे क्यों दुःख मानता है वह पक्षी? जो चोंच में लिए है उसको चोंच से निकालकर बाहर फेंक, फिर कोई भी पक्षी उसे न सतायेगा। ऐसे ही इस जीव ने धन और जीवन इन दोनों से राग किया है ये सदा काल तक जीते रहना चाहते हैं और धन सम्पदा की कुछ सीमा भी नहीं बनाना चाहते। लखपति हो जाय तो करोड़पति की आशा, करोड़पति हो जाय तो अरबपति की आशा। जो आज बहुत बड़े धनी है उनको अब जरूरत भी कुछ नहीं है। तो धर्मसाधना में क्यों नहीं जुट जाते? तृष्णा लगी है तब तक ये कर्म सताने वाले बनते हैं। ये दो बातें ही न रहे, न धन की तृष्णा भावे और न जीवन का लोभ करे, फिर कर्म का सताना ही क्या रहेगा?

ज्ञानी की ज्ञान से अविचलितता—भैया ! कुछ यथार्थ ज्ञान तो करो—जीऊँ तो जीऊँ, न जीऊँ तो क्या? मैं आत्मा तो अमर हूं। इसका प्राण तो ज्ञान दर्शन है। उसका कभी वियोग नहीं होता। क्या क्लेश है? मेरा ज्ञान तो मेरा स्वरूप है वह कही नहीं जाता। धन जाय तो जाय क्या क्लेश है, यों धन और जीवन दोनों का मोह छोड़ दे तो फिर कर्म क्या कर सकते है? जब हम स्वयं ही कमजोर है, उपादान निर्बल है तो अनेक दुःखी होने के निमित्त मिल जायेंगे। जब आत्मा बलिष्ठ है, ज्ञानबल जागरूक है, अपने शुद्ध स्वभावी परख है, उसका ही ग्रहण हो रहा है तब सारा जगत भी प्रतिकूल हो जाय कोई कुछ भी बातें कहें क्या असर होता है इस ज्ञानी पर। यह ज्ञानी पुरुष तो जो अपने उपयोग में कर्तव्य निश्चित कर चुका है उस कर्तव्य से विचलित नहीं होता है।

संसार व्यवहार का वैचित्र्य—यह संसार बड़ा विकट है। कोई पुरुष अधिक बात बोले तो लोग कहते हैं कि यह बड़ा बकवादी है, यदि कुछ बात न बोले, चुप रहे तो लोग कहते हैं, कि यह बड़े गुरूर वाला है, किसी से बोलता नहीं है। कोई मधुर बात बोले तो लोग कहते हैं कि यह जबान का मीठा है पर अंतरंग में मिठाई नहीं है, कोई कठोर वचन बोले तो कहते हैं कि इसे बोलने का कुछ भी सहूर नहीं है। यह तो लट्ठमार वचन बोलता है, कुछ कर्तव्य न करे तो लोग कहेंगे कि यह बड़ा कायर है, यह कुछ करता ही नहीं है, कुछ करे तो लोग कहेंगे कि यह सब विपरीत कार्य करता है। अरे संसार मे जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह सब विपरीत ही तो है? आत्मा की करतूत किसमें है सो बतावो ? आत्मा की करतूत तो ज्ञाता द्रष्टा रहने में है, बाकी तो सब जंजाल है। यहाँ लोगों के निर्णय पर तुम अपना प्रोग्राम रखोगे क्या? इससे पूरा न पड़ेगा। लोग कुछ भी विचारें, तुम अपने आत्मा से न्याय की बात सोच लो और उस पर फिर डट जावो । दूसरों की वोट पर अपने पग बढ़ाने में बुद्धिमानी नहीं है किन्तु अपने अंतः ईश्वर से आज्ञा लेकर जिस काम को यह उचित समझता हो,

स्वपर हितकारी जानता हो उस धुन को लेकर बढ़ते चले जाइए। तुम्हें जो कुछ मिलेगा अपने परिणमन से मिलेगा, इस कारण अपने परिणमन में ही शोधन कर लेना चाहिए कि मुझे किस तरह रहना है?

निःसकंट स्वरूप के अवलम्बन की स्वच्छता में बाधाओं का अभाव—भैया ! मुझे किसी प्रकार का संकट नहीं है। निःसंकट स्वभाव का आलम्बन हो तो फिर क्लेश का कोई अवसर नहीं आ सकता। मेरे मृत्यु भय नहीं है, मेरे व्याधि नहीं है, मेरे व्यथा भी नहीं है। सर्व अवस्थाओं से शून्य केवल शुद्ध ज्ञानमात्र मैं हूँ, ऐसा ज्ञानी जन अपने आपके स्वरूप का निर्णय करते हैं। जिसे धर्म पालना है, धर्म में प्रगति बढ़ाना है उसे पहिले यह चाहिए कि वह अपने हृदय को स्वच्छ बना ले। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इन विकारों से आत्मा में मलिनता बढ़ती है, पहिले स्वच्छ करिये अपना हृदय। अपने अंतरंग को पवित्र वही बना सकता है जो यथार्थ निज को निज पर को पर जान लेता है। मैं सर्व बाधाओं से रहित हूं, संकटो का मुझ में नाम नहीं है, ऐसी निःसंकट ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की श्रद्धा हो, उसमें ही उपयोग को समाया जाय तो सर्व प्रकार के संकट दूर हो जाते हैं।

माया से परे परमज्योति का चिन्तन—जो मिलकर बढ़ जाय और बिछुड़कर घट जाय वह तो सब व्यक्त माया है। जिस वस्तु में मिलन हो रहा है यदि वह सब वस्तु मिलकर बढ़ गयी है और बिछुड़कर घट जाने वाली है वह सब पुद्‌गल है। पूरण और गलन की जिसमें निरन्तर वर्तना चल रही है उसको पुद्‌गल कहते हैं। पुद्‌गल के ही संयोग से जीवन, पुद्‌गल के वियोग से मरण, पुद्‌गल के वियोग से ही व्याधि और पुद्गल को अपनाने से व्यथा है। यह मैं आत्मा समस्त पुद्‌गलों से विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र शाश्वत अंतः प्रकाशमान हूँ, उसे न देखा, न आश्रय किया इसने। उसके फल में अब तक रूलता चला आया हूं। अब मोह को तजे, रागद्वेष को हटावे, अपने आधारभूत शुद्ध आत्मतत्त्व को ग्रहण करे, ऐसा यत्न करने में ही जीवन की सफलता है अन्यथा कितने ही कीड़े कितने ही एकेन्द्रिय जैसे मरते हैं रोज-रोज वैसे ही मरण कर जाने में शुमार हो जायगी। ज्ञानी पुरुष अपने को सबसे न्यारा केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र प्रतीति में ले रहा है और इसके अनुभव से इसके लक्ष्य से अपने आप में परमज्योति को प्रकट कर रहा है। यों ज्ञानी ने चिन्तन में इस आत्मस्वरूप का आश्रय लिया है।

श्लोक 30

भुक्त्वोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्‌गलाः।

उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।।३०।।

भय के औट पाये—जब तक इस जीव की शरीर और आत्मा में एकमेक मान्यता रहती है, शरीर को ही यह मैं हूं ऐसा समझा जाता है तब तक इस जीव में भय और दुःख होता है। ये जगत के प्राणी जो भी दुःखी है

उनमें दुःख का कारण एक पर्यायबुद्धि है। अन्यथा जगत में क्लेश है कहाँ? ये सब बाह्य पदार्थ है, कैसा ही परिणमें, हमारा क्या बिगाड़ किया ? कोई भी कष्ट की बात नहीं है। आज वैभव है, कल न रहा, हमारा क्या बिगड़ गया, वह तो हमसे भिन्न ही था। रही एक यह बात कि अपना जीवन चलाने के लिए तो धन की जरूरत है? तो जीवन चलाने के लिए कितने धन की जरूरत है? तृष्णा क्यों लग गयी है, उसका कारण है केवल दुनिया में अपनी वाहवाही प्रसिद्ध करना, अन्यथा धन की तृष्णा हो नहीं सकती। धन आए तो आने दो। चक्रवर्तियों के ६ खण्ड को वैभव आता है आने का मना नहीं हे किन्तु उस वैभव को ही अपना सर्वस्व समझ लेना, इसके बिना मेरा जीवन नहीं है, यही मेरा शरण है, ऐसे बुद्धि कर लेना, यही विपत्ति की बात है।

ज्ञानी का परिणाम—जब यह जीव इन समस्त बाह्य पदार्थों को अहितकारी मानकर, अपने से भिन्न समझकर त्याग कर देता है तब फिर कभी भी ये संताप के कारण नहीं होते। ज्ञानी पुरुष इसी प्रयोजन के लिए चिन्तन कर रहा है कि मैने सभी पुद्गलों को भोग भोगकर बारबार छोड़ा, अब ये सारे भोग जूठे हो गये, एक बार भोजन कर लेने पर बाद में फिर उसे खाये तो वह झूठा कहलाया , खाये हुए को उगल करके फिर खाया। ऐसे ही यह जितनी विभूति है धन सम्पदा है ये सब कई बार भोग चुके हैं और भोग भोगकर उन्हें छोड़ दिया था। भोगकर छोड़े गए पुद्गल फिर भोगने में आ रहें है तब ये जूठे ही तो कहलाये। उन भोगों में मुझ ज्ञानी के क्या स्पृहा होना चाहिए?

अनन्ते परिवर्तनों में गृहीत भोग—यह जीव अनादिकाल से पंच परिवर्तन में घूम रहा है। सबने सुना है कि परिवर्तन ५ होते हैं। छह ढाला में लिखा है यों परिवर्तन पूरे करे। पहिली ढाल के अंत में है। इस प्रकार यह जीव परिवर्तन को पूरा करता है। वह परिवर्तन क्या है? उनका नाम है द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। द्रव्यपरिवर्तन का पहिला स्वरूप देखो—किसी जीव ने अगृहीत ही पुद्गल परमाणुओं को, स्कंधों को ग्रहण किया, और इस परिवर्तन से पहिले जो भोगने में आये थे, जब अनेक बार उन गृहीत स्कंधों का ग्रहण कर लिया फिर अगृहीत स्कंध ग्रहण में आया। गृहीत मानते हैं जिन पुद्गलों को पहिले भोग चुके और अगृहीत के मायने है जिन पुद्गलों को पहिले भोगा न था। यद्यपि ऐसी बात नहीं है कि कोई पुद्गल ऐसे भी हो जिन्हें पहिले कभी न भोगा था। लेकिन परिवर्तन जबसे बताया है तब का हिसाब है। अनन्त बार भोगा हुआ ग्रहणकर ले तब बिना भोगा ग्रहण में आया। यों अनन्त बार फिर भोगा हुआ ग्रहण करे तो फिर बिना भोगा हुआ ग्रहण में आया। इस तरह बिना भोगा भी अनन्त बार ग्रहण में आ चुके, तब भोगा और बिना भोगा मिलकर ग्रहण में आया। इस तरह बिना भोगा भी अनंत बार ग्रहण में आ चुकें, तब भोगा और बिना भोगा मिलकर ग्रहण में आये, इस तरह गृहीत अगृहीत मिश्र का कई पद्धतियों में ग्रहण बता करके द्रव्यपरिवर्तन की बात है। उससे सिर्फ यह जानना है कि इस जीव ने अब तक संसार के सभी पुद्गलों को अनेक बार भोगा है और भोगकर छोड़ा है।

तृष्णा का आतंक—भैया ! अनन्तों बार का भोगा हुआ व छोड़ा हुआ यह वैभव फिर मिला है तो इसमें तृष्णा फिर बन गयी। भव-भव में तृष्णाएँ की, वे तृष्णाएँ पुरानी हुई, जीर्ण हुई, मिट गयी, फिर नवीन तृष्णाएँ बना ली। जैसे पहिले हम आप सभी बच्चे थे, फिर जवान हुए, अब बूढ़े हो रहे हैं। तो बचपन में जो दिल होता है, जिस प्रकार की खुशी होती है वह अब कहाँ है? बचपन में पहिले कुछ विद्या सीखी, स्वर व्यञ्जन सीखा तो खुश हो गये, समझा कि बहुत कुछ सीख लिया, खूब पढ़ लिया। अब देखो जवानी व्यतीत हो गयी, बूढ़े हो गए, मरण हो जाएगा। फिर कदाचित् मनुष्य हो गये तो बच्चे होंगे फिर वही स्वर व्यञ्जन नई चीज मान लेंगे और फिर वही नई उत्सुकता होगी। अच्छा दूसरे भव की बात छोड़ों, कल भी कुछ आपने खाया था, वही दाल, रोटी, साग, छककर खाया था, तृप्त हुए थे, आज १० बजे फिर वही दाल, रोटी साक खाया होगा तो कुछ नई सी मालूम हुई होगी। कितने ही बार भोग भोगता जाय यह व्यामोही फिर भी बीच-बीच में जो भोग मिलें, साधन मिले, वैभव मिले तो वे भोग नये-नये लगते हैं।

व्यर्थ का अभिमान—भैया ! अनेक बार सेठ हो चुके होंगे, आज लाख या हजार का वैभव मिल गया तो वही नया मान लिया। मैने बहुत चीज पायी। और इससे करोड़ों गुणा वैभव पाया और उसे छोड़ दिया। अनेक बार राज्यपद पाया होगा, बड़ी हुकूमत की होगी पर आज कुछ लोगों में नेतागिरी मिली या कुछ हुकूमत मिल जाय, थोड़े राज्य में पैठ हो जाय तो यह बड़ा अभिमान करता है, फूला नहीं समाता। मैं अब यह हो गया हूं, अरे इससे बढ़-बढ़कर बातें हुई उसके आगे आज मिला क्या है? परन्तु यह मोही कुछ भी मिले उसे ही नई चीज मानता है। क्या प्रकृति है इस जीव की कि इन भोगों को अनेक बार भोगा है फिर भी ये जब मिलते हैं तो नये से लगते हैं। ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि अब उन जूठे भोगों में मुझ ज्ञानी की क्या स्पृहा हो? अनादि काल से मोहनीय कर्म के उदयवश सभी पुद्गलों को मुझ संसारी जीव ने बार-बार भोगा और भोग करके छोड़ दिया। अब कुछ चेत आया है, अब मैं विवेकी हुआ हूँ, शरीर आदिक के स्वरूप को भली प्रकार जानकर अब उन जूठे भोजन में, गंध आदिक पदार्थों मे अब मेरे भोगने की क्या इच्छा हो?

आत्मीय आनन्द की अपूर्वता—भैया ! जब तक किसी को निरूपम आनन्द का अनुभव नहीं हो लेता तब तक विषयों की प्रीति नहीं छूट सकती। इसे तो आनन्द चाहिए। वर्तमान आनन्द से अधिक आनन्द किसी बात में हो तो इसे छोड़ देगा, बड़े आनन्द वाली चीज ग्रहण करेगा। मोह दशा में परपदार्थों की और बुद्धि होने के कारण इस जीव को अपने आत्मस्वरूप में रूचि नहीं है और न यह विकल्पों का बोझा हटाना चाहता है। विकल्पों का ही मौज मानता है। मोह बढ़ाकर, ममता बढ़ाकर, राग बसाकर यह जीव अपने को कुशल और बड़ा सुखी मानता है, फिर इसे आत्मीय सत्य आनन्द कैसे प्राप्त हो? जो बड़े स्वादिष्ट पदार्थों का सेवन करने वाला है उस पुरुष को जूठा खाने में कोई अभिलाषा नहीं होती। जूठे पदार्थों को मनुष्य घृणा की दृष्टि देखते

हैं। तो यो ही यह समझो कि ये रमणीक समस्त पदार्थ अनेक बार भोग लिए गए वे झूठे है। उनमें मुझ ज्ञानी की क्या इच्छा हो?

स्पर्शनेन्द्रिय विषय की अरम्यता—भैया ! कुछ निर्णय तो करो कि कौनसा विषय ऐसा है जो हितकारी हो, जिसमें रमण करना हो? कोई भी विषय नहीं है। यह कामी पुरुष कामवासना के वश होकर शरीर के रूप को बहुत रमणीक मानता है। मगर रूप क्या है? अरे थोड़ी सी देर में नाक निकल पड़े तो बड़ा सुन्दर जंचने वाला रूप भी किरकिरा हो जाता है, घृणा आने लगती है। जिसे जानते हैं कि यह बहुत अच्छी छवि है, क्रान्ति है, रूप है, सुडौल है, और जरा नाक मल बाहर निकल आये, थोड़ा ओठों से भिड़ जाय और इतना ही नहीं, कुछ अंदाज भी हो जाय तो वहाँ फिर रति नहीं हो सकती। घृणा होने लगती है।

शरीर की असारता—अहो, कर्मों ने तो मानो इस अपवित्र मनुष्य शरीर को इसलिए बनाया कि यह जीव विरक्त होकर अपने आत्महित के मार्ग में लगे। भीतर से बाहर तक सारा शरीर अपवित्र ही अपवित्र है। जैसे केले के पेड़ में सार नहीं रहता, उसे छीलते जावो तो पत्ते निकलते जायेंगे, सब खत्म हो जायेंगे, पर सार की बात कुछ न मिलेगी। जैसे वह केले का पेड़ असार है ऐसे ही जानो कि इस शरीर में कुछ सार नहीं है। अपवित्र वस्तुओं को सबको हटा दो फिर क्या मिलेगा देह में बहुत अन्दर से बाहर तक अपवित्रता ही अपवित्रता नजर आती है इस शरीर में। भीतर हड्डी, फिर मांस, मज्ञा, खून, चमड़ा, रोम है। कही कुछ भी तत्त्व की बात नहीं मिलती है। यदि कुछ तत्त्व की बात मिलती हो तो बताओ, पर मोह का ऐसा नशा है इस जीव पर कि जो असार है, जिस शरीर में कुछ सार की बात नहीं है, अपवित्र ही अपवित्र है पूरा और फिर भी इस शरीर को निरखकर मोही पुरुष कुछ कल्पना बनाकर मौज मानते हैं।

नर देह में जुगुप्सा और असारता—भैया ! पृथ्वी में, वनस्पति में इनमें तो कुछ सार मिल जायगा, जितने ये काम आ रहे हैं पृथ्वी और वनस्पति प्रयोग में आ रहे हैं, पर यह मनुष्य का शरीर किसी काम आता है क्या? मर जाने के बाद बड़ी जल्दी जलावो ऐसी लोगों को आकुलता हो जाती है। देर तक मुर्दा न रहे, कोई लोग तो यह शंका करते हैं कि देर तक मुर्दा रहने से घर में भूत न बस जाय। कोई अपवित्र दुर्गन्धित वातावरण न हो जाय, इससे डरते हैं, उसका मुख भयानक हो जाता है सो उससे डरते हैं। घरके ही लोग उस मुर्दे की शक्ल भी नहीं देख सकते हैं, छुपते हैं। किस काम आता है यह शरीर, सो बताओ? इस शरीर से भले तो उपयोग की दृष्टि से पृथ्वी और वनस्पति है, इनका फिर भी आदर है, हीरा-जवाहरात, सोना-चांदी ये सब पृथ्वी ही तो है, इनमें भी जीव था, अब जीव नहीं रहा तो मुर्दा पृथ्वी है, किन्तु इस मृतक पृथ्वी का कितना आदर है? वनस्पतियों में काठ आदि का कितना आदर है, कितनी ही उस पर कलात्मक रचनाएँ की जाती है पर मनुष्य शरीर का क्या होता है, क्या आस्था है इसकी, कौन रखता है इसे?

शरीर की कृतघ्नता—यह शरीर प्रीति के योग्य नहीं है और फिर अपने आपके शरीर को भी कह लो, यह शरीर भी प्रीति के योग्य नहीं है, इसे आराम से रखो, कही इसे कष्ट न हो जाय। अरे क्या डरना, जैसे सर्प को दूध पिलाओ तो विष ही उगलेगा ऐसे ही इस शरीर को कितना ही सजाओ, कितना ही गद्दा तकियों पर रक्खे रहो, दूसरे का भी काम न करना पड़े, शरीर पर कितनी ही मेहरबानी करो पर शरीर की और से क्या उत्तर मिलेगा? रोग, अपवित्रता से सारी बातें और अधिक इसमें फैल जाती है और अन्त में यह साथ न जायगा। कितना ही इससे मरते समय लड़ो—अरे शरीर ! तेरे लिए हमने जिन्दगी में बड़े-बड़े श्रम किये, संकल्प विकल्प आकुलता व्याकुलता के कितने ही प्रसंग आये, उनमें मैने तुझे बड़े आराम से रक्खा, तू मेरे साथ तो चल। तो इस जीव के साथ एक कण भी चलता है क्या?

वैभव की असारता—कौन सा ठाठ है ऐसा सारभूत जिसमे इतना रमा जा रहा है? वह वैभव रमने के लायक नहीं है तिस पर भी कितना इसका बेढंगा नाच है, कितना भी वैभव मिल जाय तो इसे थोड़ा लगता है। मुझे तो यह थोड़ा ही है, हम तो बड़े कष्ट में है, कुछ ढंग से गुजारा ही नहीं चलता है। ज्ञानी जीव इस वैभव को झूठा समझता है। करने योग्य काम तो निर्विकल्प होकर ज्ञानप्रकाश का अनुभव करना है और सारी बातें मायामयी है, व्यर्थ है, केवल बरबादी के ही कारण है। ज्ञानीपुरुष इन पुद्‌गल से प्रीति नहीं रखता है। किस भव में ये विषयभोग नहीं मिले, सूकर, कूकर, कीट, पतंग जो कुछ भी भव धारण किया क्या उन सब भवों में विषयभोग नहीं भोगे ? इस जीव के लिए खेद की बात यह है कि जैसे अग्नि कभी यह नहीं कहती कि मुझे ईधन अब न चाहिए, अब मैं तृप्त हो गयी हूं। उसमें तो जितना ही ईधन डालो उतनी ही वह बढ़ती चली जायगी, ऐसे ही ये विषयभोग के साधन है, जितने ही भोगविषयों के साधन मिलते जायेंगे उतनी ही तृष्णा बढ़ती चली जायगी।

गुण ग्रहण की भावना—भैया ! सच बात तो यह है कि जब तक होनहार अच्छा नहीं आने को होता है तब तक इस जीव को ज्ञान भी नहीं जगता, विवेक नहीं होता। जिसका होनहार ही खोटा है उसको धर्म की रीति से ज्ञान की बात नहीं रूचती है। वह तो सर्वत्र दोष ही दोष निरखता रहता है। उसके सर्वत्र दोष ही दोष का ग्रहण होगा। धर्मीजनों में कुछ अच्छी भी बात है, पर इस और दृष्टि नहीं जाती। धर्म खराब है, कुछ जैनियों का उदाहरण दे दिया, अमुक यों है, अमुक यों है। अरे तुम्हें अमुक से क्या मतलब ? धर्म में जो वस्तुस्वरूप बताया है उस स्वरूप का आचरण करके तुम्हीं ठीक बनकर उदाहरण बन जावो। धर्म मानने वाले लोगो के दोष निरखकर कौनसी सिद्धि हो जायगी ? तुम उसके गुण देखो, धर्म में क्या गुण है, धर्म में क्या प्रकाश है, यह सिद्धान्त वस्तुस्वरूप को किस प्रकार कह रहा है, उसको निरखो। जब ध्यान में आयगा—अहो, ऐसा स्वतंत्र स्वरूप मेरा है ज्ञानानन्दमात्र, आनन्द जगेगा और समस्त झंझटों का परित्याग हो जायगा, समस्त संकट टल

जायेंगे। ये भोग भव-भव में भोगे है। इन भोगे हुए भोगों में मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा की इच्छा क्यों हो? ऐसी भावना ओर आचरण बनाना चाहिए।

श्लोक 31

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।।३१।।

कर्म और जीव में अपने-अपने प्रभाव की और झुकाव—कर्म कर्मों के हित की बात करते हैं और जीव-जीव के हित को चाहता है। सो यह बात युक्त ही है कि अपने-अपने को प्रभाव बढ़ाने के लिए कौन पुरुष स्वार्थ को नहीं चाहता है? इस श्लोक में बताया है कि कर्मों के उदय से होता क्या है? कर्म बँधते हैं, कर्म कर्मों को ग्रहण करने के लिए स्थान देते हैं। कर्मों में कर्म बन्धन है। कर्मों से कर्म आगे संतान बढ़ाते चले जाते हैं। तो इन कर्मों ने कर्मों का कुटुम्ब बनाने की ठानी। और यह जीव, अंतरंग से पूछो इससे कि यह क्या चाहता है? यह अपना हित चाहता है; आनन्द, शान्ति चाहता है। भले ही कोई भ्रम हो जाय और उस भ्रम में सही काम न कर सके, यह बात दूसरी है किन्तु मूल प्रेरणा जीव को जीव के हित की भावना से उठती है। इस जीव ने जीव का हित चाहा और कर्मों ने कर्मों का कुल बढ़ाया सो यह बात लोक में युक्त ही है कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी बिरादरी का ध्यान रखता है, कुल को बढ़ाता है। कर्मों ने कर्मों को बढ़ाया, जीव ने जीव का सम्बन्ध चाहा।

लोकयुक्तता—संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जो बलवान होता है वह दूसरे को अपनी ओर खींच लेता है। जब कर्म बलिष्ठ होगा तो वह अनेक कर्मों का आकर्षण कर लेगा और जब जीव बलिष्ठ होता तो यह जीव अपने स्वभाव का विकास कर लेगा। अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए सभी पदार्थ उद्यत है। ये कर्म उदय में आते हैं तो कर्मों के उदय के निमित्त से जीव में क्रोधादिक कषायें उत्पन्न होती है और उन कषाय भावों के निमित्त से कर्मों का बन्धन होने लगता है। फिर उनका उदय आता है। जीव के भाव बिगड़े, नवीन कर्म बँधे, इस तरह से यह संतति चलती रहती है। इन कर्मों ने इस प्रकार से कर्मों की संतति बढ़ायी है।

जीव और कर्म में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध होने पर भी स्वतंत्रता—जीव में और कर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के भाव का निमित्त पाकर कर्मों का बन्धन होता है। अर्थात् कार्माणवर्गणाएँ स्वयं ही कर्म रूप से प्रवृत्त हो जाती है, और कर्मों का उदय होने पर यह जीव स्वयं रागादिक भावों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा इन दोनों में परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है, फिर भी किसी भी पदार्थ का परिणमन किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुँचता है। जैसे यही देख लो—बोलने वाला पुरुष और सुनने वाले लोग इन दोनों को परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। बोलने वाले का निमित्त पाकर सुनने वाले शब्दों को सुनकर और उनका अर्थ जानकर

ज्ञानविकास करते हैं, यो उनके इस ज्ञानविकास में कोई वक्ता निमित्त हुआ और वक्ता को भी श्रोताओं को निरखकर धर्मचर्चा सुनाने की रूचि हुई। ये कल्याणार्थी है ऐसा जानकर वक्ता उस प्रकार से अपना भाषण करता तो यों वक्ता को बोलने में श्रोतागण निमित्त हुए और श्रोतागणों के सुनने और जानने में वक्ता निमित्त हुआ। ऐसा परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है। फिर भी वक्ता ने श्रोतावों में कुछ परिणमन नहीं किया और श्रोताओं ने वक्ता में कुछ परिणमन नहीं किया। ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बंध का यथार्थ मर्म तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है।

निमित्तनैमित्तिक चक्र में जीव का कल्याण—इस निमित्तनैमित्तिक भाव के चक्र मे यह जीव अनादि काल से संसार में जन्म मरण करता चला आ रहा है। इस पर कैसी मोहनी धूल पड़ी है अथवा इसने मोह की शराब पी है कि इसे जो कुछ आज मिला है, जिन जीवों का समागम हुआ है, जो धन वैभव साथ है यह उसको अपना सब कुछ मानता है, यही मेरा है। अरे न तेरे साथ कुछ आया और न तेरे साथ जाएगा। ये तो तेरी बरबादी के ही करण हो रहे हैं। उनका निमित्त करके, आश्रय करके उनको उपयोग का विषय बनाकर अपनी विभाव परिणति रच रहे हैं, क्या कल्याण किया उन समागमों के कारण? कुछ भी कल्याण नहीं किया, लेकिन यह मोही जीव कूद-कूदकर सबको छोड़कर केवल इने गिने दो चार जीवों को अपना सब कुछ मान लिया। कितना लाखों का धन कमाया, वह किसके लिए है? केवल उन्ही दो चार जीवों के आराम के लिए। उसकी दृष्टि में जगत के शेष जीव कुछ नहीं है। यहाँ कितना बड़ा पागलपन छाया है? दुःखी होता जाता है, और दुःख का कारण जो अज्ञान है, मोह उसे छोड़ना नहीं चाहता है।

निर्मोहता का आदर—धन्य है वे गृहस्थ जन जो गृहस्थी के सम्पदा के बीच रहते हुए जल में भिन्न कमल की नाई रहते हैं। यह जो आगम में लिखा है कि ज्ञानी पुरुष जल में भिन्न कमल की तरह रहते हैं तो क्या कोई ऐसे होते नहीं है? किनके लिए लिखा है? न रहे जल में भिन्न कमल की भांति, खूब आसक्ति रक्खे तो उससे पूरा पड़ जायगा क्या? मरते हुए जीव को दो चार आदमी पकड़े रहें तो जीव रूक जायगा क्या? अथवा कोई कितनी ही मिन्नते करे कि ऐ जीव ! तुम अभी मत जाओ तो क्या वह रूक जायगा? उसका क्या हाल होगा? बहुत मोह किया हो जिसने, वह भी क्या रूक सकता है? मोह का कैसा विचित्र नशा है कि अपने आत्मा की जो निरूपम निधि है, ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूप को तो भुला दिया और बाह्यपदार्थों में रत हो गया, समय गुजर रहा है बहुत बुरी तरह से। शुद्ध ज्ञान हो, सच्चा ज्ञान बना रहे तो वहाँ कोई क्लेश हो ही नहीं सकता। जब यथार्थ ज्ञान से हम मुख मोड़े है और अज्ञानमयी भावना बनाते हैं तब क्लेश होता है।

आत्मप्रभाव के लिए संकल्प—जो कर्मों से घिरा हुआ है, जिस पर कर्म प्रबल छाये हैं, बड़ी शक्ति के कर्म है ऐसे जीव पुनः कर्मों का संचय करते हैं, और जिनके कर्म शिथिल हो गये, ज्ञान प्रकाश जिनका उदित हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुष ज्ञानानन्दस्वरूप में आनन्दमय निज स्वभाव में स्थित रहा करते हैं। कर्म कर्मों को बढाये, जीव-जीव का ही हित चाहे, ऐसी बात जानकर है मोक्षार्थी पुरुषो ! जब कर्म अपनी हठ पर तुले हुए है तब

हम मुक्ति से प्रीति क्यों नहीं करते, क्यों संसार की भटकना, क्लेश, इनमें ही प्रीति करते है? कर्मों ने ऐसी हठ बनायी है तो हम अपने स्वभाव विकास की हठ बनावें ना? कर्म या चलते हैं चले। कर्म क्या करेंगे? कुछ धन नष्ट हो जायगा, या जीवन जल्दी चला जायगा या यश नष्ट हो जायगा। इन तीन बातों के सिवाय और क्या हो सकता है, सो बताओ?

शुद्ध ज्ञानरूप साहस—भैया ! अन्तरंग में परमप्रकाश पावो। धन चला जाय तो चला जाय, वह दूर तो रहता ही था और दूर चला गया। कहाँ धन आत्मा में लिपटा है? वह तो दूर-दूर रहता है। यह धन दूर-दूर तो रहता ही था और दूर हो गया। इस घर में न रहा, किसी और घर में चला गया। जो धन है उसका बिल्कुल अभाव कहाँ होगा? जो इस मायामयी दुनिया में अपना झूठा पर्याय नाम नहीं चाहते हैं उन पुरुषो को यश बिगड़ने का क्या कष्ट होगा ? हाँ अपने आप में कोई दुर्भावना न उत्पन्न हो फिर तो वह मौज में ही है, उसकी शान्ति को किसने छीना है ? ऐसा साहस बनावो कि दो-एक नहीं, सारा जहान भी मुझे न पहिचाने, अगर अपयश गाता फिरे तो सारा जहान गावे उससे इस अमूर्त आत्मा को कौन सी बाधा हो सकती है ? सत्यमेव जयते। अंत में विजय सत्य की ही होती है। यदि शुद्ध परिणाम है, शुद्ध भावना है तो इस जीव का कहाँ बिगाड़ है, कर्म क्या करेंगे ? इन तीन पर ही तो ये कर्म आक्रमण कर सकते हैं। ज्ञानी पुरुष को इन तीन की भी कुछ परवाह नहीं होती है।

यश अपयश के क्षोभ से विरक्त रहने में भलाई—आत्मा का कल्याण तब होता है जब यह समस्त परविषयक विकल्पों को तोड़कर केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपना अनुभव बताता है ऐसा करने में उसने समस्त यश अपयश को छोड़ ही तो दिया। अपयश होने में जो बुराई है वही बुराई यश मे भी है। अपयश से तो यह जीव दुःख मानकर संक्लेश करता है और पाप का बंध करता है और यश होने पर यह जीव रौद्र आशय बनाता है, रौद्रानन्दी बन जाता है, उसमे क्रूरता, बहिर्मुखता बढ़ती जा रही है और उसमें जो संक्लेश हुआ, जो कलुषता बनी, बहिर्मुख दृष्टि बढ़ी, उनके निमित्त से जो कर्मों का बंध हुआ उनके उदयकाल में क्या दुर्गति न होगी? जितना बिगाड़ अपयश से हे उतना ही बिगाड़ यश से है। अज्ञानी जीव को तो सर्वत्र विपदा है। वह कही भी सुख शान्ति से रह ही नहीं सकता। ज्ञानी जीव को सर्वत्र शान्ति है, उसे कोई भी वातावरण स्वरूप से विचलित नहीं कर सकता है, अज्ञानी नहीं बना सकता है।

मूढ़ता में क्लेश होने की प्राकृतिकता पर दृष्टान्त—कोई उद्दण्ड पुरुष हो और उसे हर जगह क्लेश मिले तो उसका यह सोचना व्यर्थ हे कि अमुक लोग मेरे विरोधी है और मुझे कष्ट पहुँचाते हैं। अरे कष्ट पहुँचाने वाला कोई दूसरा नहीं है। खुद ही परिणाम बिगाड़ते हैं और कष्ट में आते हैं। कोई एक बुद्धिहीन मूर्ख पुरुष था। उसे लोग गाँव में मूरखचंद बोला करते थे। वह गाँव वालो से तंग आकर घर छोड़कर गाँव से बाहर चला गया, रास्ते में एक कुवां मिला, वह उस कुंवे की मेड़ के ऊपर कुंवे में पैर लटकाकर बैठ गया। कुछ मुसाफिर आए

और बोले कि अरे मूरखचंद कहाँ बैठे हो ? तो वह पुरुष उठकर उन मुसाफिरों के गले लगकर बोलता है—भाई, और भई सो भई पर यह तो बताओ कि तुमको किसने बताया कि मेरा नाम मूरखचंद है ? मुसाफिर बोले कि हमको किसी ने नहीं बताया, तुम्हारी ही करतूत ने बताया कि तुम्हारा नाम मूरखचंद है।

क्लेश का कारण मोह—इस संसार में जो जीव दुःखी है वे मोह की उद्दण्डता से दुःखी है, किसी दूसरे का नाम लगाना बिल्कुल व्यर्थ है कि अमुक ने मुझे यो सताया। व्यर्थ की कल्पनाएँ करना बेकार बात है। मैं स्वयं ही अज्ञानी हूँ इस कारण अज्ञान से ही क्लेश हो रहे हैं। संसार की स्थिति किसी ने अब तक क्या सुधार पायी है? बड़े-बड़े महापुरुष हुए जिनके नाम के पुराण रचे गए है, पुराणों मे जिनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है उन्होने भी तो स्वांग रचा था, घर बनवाया, गृहस्थी बसायी, बाल बच्चे हुए, राजपाठ हुआ, युद्ध भी किया, सारे स्वांग तो रचे उन्होने भी, क्या संसार की इस स्थिति को पूरा कर पाया ? वैसी ही चलती गाड़ी बनी रही। कुछ दिन घर रहे, फिर छोड़ा कोई तप करके मोक्ष गए, कोई स्वर्ग गए, कोई बुरी वासना में मरकर नरक गए। सबका विछोह हुआ, लो कही का ईट कही का रोड़ा। जोड़ा तो बहुत था पर अंत में सब कुछ बिछुड़ गया। क्या किसी ने पूरा कर पाया?

व्यर्थ की चिन्ता—सब व्यर्थ की चिन्ता मचा रक्खी है मोही प्राणियों ने। मुझे इतनी जायदाद मिल जाय, मैं इस ढंग का कार्य बना लूं फिर तो कुछ चिन्ता ही न रहेगी। अरे भाई जब तक पर्याय मूढ़ता है तब तक बेफिक्र हो ही नहीं सकते। एक फिक्र मिट गई तो उसकी सवाई एक फिक्र और लग जायगी जिसमें उस फिक्र से भी ड्योढ़ी ताकत बनी हुई है। कहाँ तक मिटावोगे ? फिक्र तो तब मिटेगी जब फिक्र की फिक्र छोड़ी जाय। जो होता हो होने दो। कर भी क्या सकता है कोई इसमें? उदय होगा तो स्वतः ही अनुकूल बुद्धि चलेगी, स्वतः संयोग मिलेगा और वह कार्य बनेगा। कौन करने वाला है किसी दूसरे का कुछ। यह मनुष्य जीवन बाहरी विभूतियों के संचय के लिए नहीं पाया है। अपना उद्देश्य ही कर लो। जो उस पर चलेगा अर्थात सत्य मार्ग पर चलेगा उसी को ही फल मिलेगा। धर्म का पालन इसी को ही कहते हैं।

सपद्धति ज्ञानप्रयोग का अनुरोध—भैया ! केवल पूजन स्वाध्याय का सुनना या अन्य प्रकार से धर्म पालन को शौक निभाना इतने मात्र से काम नहीं चलता किन्तु कुछ अपने में अन्तर लाये, कुछ ज्ञानप्रयोग करे, जो कुछ सुना है, समझा है , जाना है उसको किसी अंश में करके दिखाये। किसे दिखाये ? दूसरे को नहीं। अपने आपको दिखा दे। जो बात धर्म पालन के लिए बतायी गई है वहाँ धर्म है, केवल रूढ़िवाद मे क्या रखा है। कोई एक सेठ था, रोज शास्त्र सुनने आता था। एक दिन देर में आया तो पंडित जी ने पूछा—सेठ जी आज देर से क्यों आए ? सेठ जी बोले—पंडित जी वह एक जो छोटा मुन्ना है ना, १० वर्ष का, वह भी हठ करने लगा कि मैं भी शास्त्र सुनने चलूंगा। फिर जब बहुत उसे मनाया, आठ आने पैसे देकर सिनेमा का टिकट कटाया, उसे भेजा तब यहाँ आ पाये। पंडित जी बोले—सेठ जी बच्चा भी आ जाता, शास्त्र सुन लेता तो क्या

नुकसान था? तो सेठ जी कहने लगे—पंडित जी ! तुम तो बहुत भोले हो। हम शास्त्र सुनने की विधि जानते हैं कि शास्त्र सुनने की क्या विधि है। अपने कुर्ता में, चद्दर मे सब धरते जाना फिर चलते समय उन सब कपड़ों को झटककर जाना। यह है सुनने की विधि। तो हम तो जानते हैं कि शास्त्र कैसे सुना जाता है, पर वह १० वर्ष का बच्चा जिसे सुनने की विधि भी नही याद है, वह कही शास्त्र सुनने से विधि के खिलाफ हृदय में धारण कर ले और कुछ ज्ञान वैराग्य जगे, घर छोड़ दे तो हम क्या करेंगे ? तो भाई यह शास्त्र सुनने की विधि नही है।

कार्य की प्रयोगसाध्यता—भैया ! जो करना हो अपनी कुछ शान्ति का काम तो अन्तर में कुछ प्रयोग करना होगा। बातों से तो काम नही चलता। कोई मनुष्य प्यासा हो और वह पानी-पानी की १०८ बार जाप जप ले तो कही पानी तो पेट में न आ जायगा, प्यास तो न मिट जायगी। ऐसे ही शान्ति आती है शुद्ध ज्ञान से। शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो वहाँ शान्ति है, हम ज्ञानप्रकाश को ही न चाहें और वही ममता तृष्णा वही कषाय निकलती रहें तो धर्म पालन कहाँ हुआ? वह तो केवल बात ही बात है।

कषायपरित्याग से शान्ति का उद्भव—अनन्तानुबंधी क्रोध बताया है जहाँ धर्म के प्रसंग में भी क्रोध आए। और जगह क्रोध आए वह उतना बुरा नही है। अनन्तानुबंधी मान बताया है कि धर्मात्माजनों के सामने अपना अभिमान बगराये। और जगह अभिमान करे वह प्रबल अभिमान नही कहलाता मगर धर्मात्माजनों के समक्ष भी अपना मान करे। मंदिर में आये तो हाथ जोड़कर नमस्कार करने तक में भी हिचकिचाहट हो या अन्य साधु संतो के प्रति, सधर्मी जनो के प्रति धर्म के नाते से धर्मीपन को दिखने के कारण अभिमान कोई बगराये तो उसे अनन्तानुबंधी मान कहते हैं। धर्म के मामले में कोई माया करे, छल, कपट करे तो उसे अनन्तानुबंधी माया कहते हैं, और धर्म के ही प्रसंग में कोई लोभ करे तो उसे अनन्तानुबंधी लोभ कहते हैं। जहाँ अनन्तानुबंधी कषाय वर्त रही हो वहाँ आनन्द के स्वप्न देखने से आनन्द का काम कैसे पूरा किया जा सकता है ? इस तत्त्वज्ञान की बात को हृदय में धरें और विवेकियों से उपेक्षा करे तो यह जीव अपना प्रभाव बढ़ा सकता है और कल्याण कर सकता है।

श्लोक 32

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।

उपकुर्वन्परस्याज्ञो वर्तमानस्य लोकवत्।।३२।।

स्वोपकार का ध्यान—हे आत्मन् ! तू परोपकार को छोड़कर स्वोपकार में रत रह। अज्ञ लोक की तरह मूढ़ बनकर दृश्यमान शरीर आदि परपदार्थों में उपयोग को क्यों कर रहा है? इस श्लोक में शब्द तो ये आये हैं कि तू परके उपकार को तज दे और अपने उपकार में लग। यह सुनने में कुछ कटु लग रहा होगा कि पर के

उपकार की मनाही की जाती है। पर के मायने है शरीरादिक बाह्यपदार्थ। तू शरीर का, धन वैभव का उपकार करना छोड़ दे और आत्मा जिस तरह शान्ति सन्तोष में रह सके वैसा उपकार कर। जैसे कोई मूढ़ अज्ञानी शत्रु को मित्र समझकर रात-दिन उसकी भलाई में लगा रहता है। उसका हित हो, अपने हित अहित का कुछ भी ध्यान नही रखता है। भ्रम हो गया। है तो शत्रु पर मान लिया मित्र। कोई मायाचारी छली कपटी पुरुष है और उसका इतना मीठा बरताव है कि हमने उसको अपना मान लिया। अब अपना मानने के भ्रम से उसके उपकार में बुद्धि रहती है। पर क्या वह हित कर देगा, क्या हानि कर देगा? इस और यह ध्यान नही रखता है। उसके हित की साधना में ही अपना सर्वस्व सौंप देता है।

तत्त्वज्ञान से स्वोपकार की रूचि—जब इसको यह परिज्ञान हो जाता है कि मेरा मित्र नही है, शत्रु है, तभी से यह मनुष्य उसका उपकार करना छोड़ देता है। यों ही यह शरीर जीव का शत्रु है। जीव का अहित इस शरीर के कारण हो रहा है अतएव यह शरीर शत्रु की तरह है लेकिन मोह में इसने मान लिया मित्र। यह शरीर मेरा बड़ा उपकारी है इतना भी भेद नही करता कि शरीर है सो मैं हूं। मुझे अपना काम करना है, शरीर का काम करना है, यह भी नही किन्तु उसे आत्मा स्वीकार कर लिया और उस पर के उपकार में यह मोही जीव लग गया है। सो यहाँ यही कहा गया है कि पर के उपकार को तज, निज के उपकार में लग। जिन प्रसंगो में अन्य जीवो का उपकार किया जा रहा है वहाँ भी यह जीव यदि यह ध्यान रख रहा है कि मैं इस पर का उपकार का काम कर रहा हूं तो भी उसने गलती की। उसने पर माना है इस शरीर को तो वह भी जड़ के काम करता है।

परमार्थतः पर के उपकार की अशक्यता—जो ज्ञानी पुरुष है वह अन्य जीवों का उपकार करके यह ध्यान मे लेता है कि मैंने किसी पर का उपकार नही किया है, किन्तु अपने ही आत्मा को विषय कषायों से रोककर अपना भला किया है। कोई जीव वस्तुतः किसी पर का उपकार कर ही नही सकता है। प्रत्येक जीव अपना ही परिणमन कर पाते हैं। जो जीव वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ है उन्हें शान्ति संतोष किसी क्षण नही मिलता है क्योंकि शान्ति का आश्रय जो स्वयं है जिसके आलम्बन से शान्ति प्रकट होती है, उसका पता नही है तो बाहर ही में किसी परपदार्थ में अपनी दृष्टि गड़ायेगा। होगा क्या कि पर तो पर ही है, उनमें दृष्टि अपनी रखने से बहिर्मुख बनने से स्वयं रीता हो गया। अब इसे कुछ शरण नही रहा। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वे जानते हैं कि मेरा स्वरूप ही मेरा शरण है। उन्हें किसी भी पदार्थ में, वातावरण में, स्थिति में विह्वलता नही होती है। वे सर्वत्र स्वतंत्र वस्तु का स्वरूप निरखते रहते हैं।

शब्दजाल से आत्मा का असम्बन्ध—सारा जहान यदि प्रशंसा करे, यश करे तो भी उन प्रशंसा के शब्दों से ज्ञानी के चित्त मे क्षोभ नही होता है। क्योंकि वह देख रहा है कि ये सब भाषावर्गणा के परिणमन है, इन शब्दों का मुझ आत्मा में रंच प्रवेश नही है और न कुछ परिणमन ही कर सकते हैं। ऐसी स्वतंत्रता का भान होने से

यह तत्त्वज्ञानी जीव प्रशंसा के शब्दों को सुनकर भी क्षोभ नही लाता है। हर्ष भी एक क्षोभ है। जो लोग प्रशंसा सुनकर मौज मानते हैं वे बहिर्मुख बनकर कषाय कर्मकलंक अपने में बरसाते हैं, उसका फल दुर्गतियों में भ्रमण करना ही है। कौन से शब्द इस जीव का क्या कर सकेंगे ? न इस भव में ये सब सहायक है और न पर भव में सहायक है। लोग आज भी ऐसा कहा करते हैं कि पुराने जो महापुरुष हुए है कृष्ण, महावीर आदि, हम उनके शब्दों का रिकार्ड कर ले, लेकिन जो शब्द परिणत हो जाते हैं। वे दूसरी क्षण में उस पर्यायरूप मे नही रहते हैं। वे रिकार्ड कहाँ से हो सकेंगे? ऐसे ही ये शब्द जब कहने के बाद ही समाप्त हो जाते हैं। कुछ काल तक यदि ये गूँजते हैं तो उसके भी गूँजने का कारण यह है कि शब्दवर्गणा के निमित्त से अन्य वर्गणायें शब्दरूप परिणम जाती है और यों बिजली की तरह इसमें भी तरंग उत्पन्न होती है, पर यह तरंग भी बहुत समय तक कहाँ ठहर सकेगी? ये शब्द न मेरे को अभी काम देते हैं, न आगे काम देंगे।

शान्ति का मूल उपाय तत्त्वज्ञान—ज्ञानी तो अपने ज्ञान के प्रकाश का रूचिया है और दूसरे जन भी इस ज्ञान का प्रकाश पायें, वस्तु का जो स्वतंत्र स्वरूप हे वह सबकी दृष्टि में आए और सुखी हो जाएँ ऐसी भावना करता है। सुखी होने का मूल उपाय तत्त्वज्ञान है। अनेक उपाय कर डालिए, कितना ही धनसंचय कर लो पर धन से भी शान्ति नही। कितनी भी लोक में इज्ज़त बना लो पर इज्ज़त से भी शान्ति नही। जो-जो उपाय करना चाहें आप कर डाले, पर एक तत्त्वज्ञान के बिना सारे उपाय शांति के लिए कार्यकारी नही है। जब भी जिसे शान्ति मिलनी होगी इस ही मार्ग से मिलेगी, खुद को खुद के यथार्थ ज्ञान से शान्ति मिलेगी। भेदविज्ञान का बड़ा महत्त्व है। कोई भी विपदा हो, विपदा कुछ भी नही, परपदार्थ के परिणमन अपने मन के अनुकूल न जंचे ऐसी कल्पना करते रहना बस यही विपदा है । विपदा भी किसी तत्त्व का नाम नही है। ऐसे चाहे लौकिक विपदा के प्रसंग भी आएँ किन्तु यह तत्त्वज्ञानी जीव अपने को सबसे न्यारा अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावरूप अनुभव करता है, इसके प्रताप से उसे कभी क्लेश नही होता है। कदाचित् क्लेश माने तो यह उसके किन्ही दर्जों तक अज्ञान का ही प्रसाद हे।

आचार्यदेव का आत्मोपकार का उपदेश—आचार्य देव यहाँ यह कह रहे हैं कि तू पर का उपकार तजकर अपने उपकार में लग। यहाँ धन वैभव, इज्ज़त लोकसम्पदा को पर कहा गया है। उनके उपकार को तज और एक अपने उपकार में लग। अपना उपकार है निज को निज पर को पर रूप से जान लेना। गुप्त ही गुप्त कल्याण होता है, दिखावट, बनावट, सजावट से कल्याण नही होता है। भेदविज्ञान की तब तक शरण गहो जब तक सर्व विकल्प समाप्त न हो जाएँ। इस जीव को यथार्थ में संकट कुछ भी नही है। आज हम आप कितनी अच्छी स्थिति में है, कीड़े, मकोड़े, पतंगों को देखो उनकी क्या दयनीय स्थिति है, अथवा मनुष्यो में ही देखो कोई भिखारी जनों की ऐसी दयनीय स्थिति है कि जिनको कई दिनों तक भी खाने का ठिकाना नही है, उनकी अपेक्षा हम आप आज कितनी अच्छी स्थिति में है, और सबसे बडी बात तो यह है कि जैन सिद्धान्त का पाना

अति दुर्लभ है। जैन सिद्धांत एक ऐसे तत्त्वज्ञान का प्रकाश करता है कि जिस ज्ञान के आने पर सदा के लिए संकट काट लेने का उपाय मिलता है।

पदार्थों का स्वातन्त्र्य स्वभाव—वस्तु के सम्बंध में जैन सिद्धान्त ने एक गहरी दृष्टि से प्रतिपादन किया है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। ये जो दृश्यमान पदार्थ पुद्गल स्कंध है ये एक चीज नही हैं, ये अनन्त परमाणुओं का पुञ्ज है। इनमें जो एक-एक परमाणु हे वह द्रव्य है, यो एक-एक जीव करके अनन्त जीवद्रव्य है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और एक-एक करके असंख्यात कालद्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ ६ साधारण गुणों करके परिपूर्ण है। प्रत्येक पदार्थ है, अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नही है। दूसरी बात यह है। तीसरी बात—अपने में यह द्रव्यत्वगुण रखने के कारण निरन्तर परिणमता रहता है। चौथी बात अपने में ही परिणमता है किसी दूसरे में नही। ५ वी बात—अपने प्रदेश से है। छठवीं बात—किसी न किसी के ज्ञान द्वारा प्रमेय है। इन ६ साधारण गुणों के वर्णन से आप यह देखेंगे कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है।

अपनी वेदना मेटने का इलाज—कोई भिखारी यदि जाड़े के दिनों में सुबह तीन चार बजे तड़के चक्कर लगाकर कपड़े माँगता है और आप लोग उसे कपड़े दे दें तो कही आप उस भिखारी का उपकार नही कर रहे हैं लेकिन व्यवहार में माना तो जा रहा है, परन्तु वहाँ क्या किया जा रहा है कि उस भिखारी की स्थिति जानकर अपने कल्पना करके खुद ही दुःखी हो गए, कुछ वेदना हो गयी, ओह यह कैसा दुःखी है? ऐसी कल्पना जगने के साथ आपके हृदय मे वेदना हो गयी। उस वेदना को मिटाने का इलाज आप और क्या कर सकते हैं ? आपने अपना ही उपकार किया, उस भिखारी का कुछ उपकार नही किया। जो जीव अपने में यह निर्णय किए हुए है कि मेरा सुख, दुःख मेरे परिणमन से ही है, कोई अन्य जीव मुझमें कुछ परिणति नही बना देता है। भले ही बाहर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है लेकिन परिणमना तो खुद की ही कला से पड़ रहा है। मैं किसी का कुछ करता भी नही हूं। जिसमें जैसी कषाय उत्पन्न होती है उस कषाय की वेदना को शान्त करने का वह प्रयत्न करता है।

ऋषि संतों की कृति में आत्मोपकार का लक्ष्य—जैन सिद्धान्त तो यह प्रकट कर रहा है कि ये आचार्यदेव जिन्होंने इन हितकारक ग्रन्थों को लिखा है जिनको पढ़कर हम आप अपनी शक्ति के अनुसार अपना उपकार कर लेते हैं, इन आचार्यों ने भी वस्तुतः हमारा उपकार नही किया है किन्तु उन्होने जो हम पामरों पर करुणा बुद्धि करके स्वयं में वेदना की थी, उन्होने भी उस वेदना को शान्त करने के लिए यत्न किया है। लोग इस बात की हैरानी मानते हैं कि मैने अपने पुत्र को इतना पढ़ाया, इतना योग्य बनाया, पर आज यह मुझसे विपरीत चलता है, ऐसा लोग खेद मानते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान का उपयोग करें तो खेद नही माना जा सकता है। मैने सर्वत्र अपने मन के अनुकूल अपनी वेदना को शान्त करने के लिए श्रम किया है, मैने दूसरे जीव का परमार्थतः

कुछ नही किया है। अब जिसकी जो परिणति है वह अपनी परिणति कर रहा है। मेरा जो कुछ कर्तव्य है वह मुझे करना चाहिए ऐसा ज्ञानी जीव के चित्त में विवेक रहता है। इस कारण वह कभी अधीर नही होता।

समय के सदुपयोग का अनुरोध—भैया ! मनुष्य जीवन और यह श्रावककुल, जैनधर्म के सिद्धान्त के श्रवण की योग्यता सब कुछ प्राप्त करके इस समय का सदुपयोग करना चाहिए। समय गुजर रहा है उम्र निकली जा रही है, मरण के निकट पहुंच रहे हैं ऐसी स्थिति में यदि सावधान न हुए तो यह होहल्ला तो सब समाप्त ही हो जायगा। तुम अपने को भविष्य में कहाँ शान्त बना सकोगे? कोई यह न जाने कि हम मर गए तो आगे की क्या खबर है कि हम रहेंगे कि नही रहेंगे, कहाँ जायेंगे, दीपक है, बुझ गया फिर क्या है, ऐसी बात नही है। खुब युक्तियों से और अनुभव से सोच लो। जो भी पदार्थ सत् है उस पदार्थ का समूल विनाश कभी नही होता है, कैसे हो सकेगा विनाश ? सत्त्व कहाँ जायगा? भले ही उसका परिणमन कितने ही प्रकारों से चलता रहे किन्तु उस पदार्थ का सत्त्व मूल से कभी नष्ट नही हो सकता। यह बात पूर्ण प्रमाण सिद्ध है।

अपनी चर्या—अब अपने आपके सम्बंध में सोचिए हम वास्तव में कुछ है। अथवा नही? यदि हम कुछ नही है तो यह बड़ी खुशी की बात है। यदि हम नही है तो ये सुख दुःख किसमें होगे? फिर तो कोई क्लेश ही न रहना चाहिए। मैं हूं और जो भी मैं हूं वह कभी मिट भी नही सकता, यदि इस भव से निकल जाऊँ तो भी मैं रहूंगा। उसके लिए अपने और अन्य जीवों का परिणमन देखकर निर्णय कर लीजिए। जो जगत में जीव दीख रहे हैं वैसा मैं भी बना और फिर बन सकता हूं। मतलब यह है कि किसी न किसी देह में रहना होगा और वहां अपने ज्ञान अज्ञान के अनुकूल सुख दुःख पाना होगा। यह सम्पदा, ये ठाठ ये समागम कितने समय के लिए है? जो इन समागम को अपने विषयवासना मे, विषयो की पूर्ति में ही खर्च करता है, तन, मन, धन, वचन सब विषयों की पूर्ति के लिए ही खर्च किए जा रहे हैं, तो यह अपने आपके उपयोग का बड़ा दुरूपयोग है। अपने लिए तो अपने खाने के लिए, पहिनने के लिए और श्रृंगार के लिए जितनी अधिक से अधिक सात्विक वृत्ति रक्खी जायगी उतना ही भला है, और शेष जो कुछ भी समागम है यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब पर के उपकार के लिए है। मुझे इन विभूतियों को विषयसाधनों में नही व्यय करना है।

स्व की सुध—विषय साधना मेरा कुछ भला नही कर सकते हैं। ये विषयो के साधनभूत समस्त परपदार्थ है, इनके लिए कहा जा रहा है कि तू पर का उपकार तज दे और निज के उपकार में तत्पर रह। है आत्मन् ! अज्ञान अवस्था में तूने अपने चिदानन्दस्वभाव की सुध नही ली। जो आनन्द का निधान सर्वोत्कृष्ट है, जिस परमपारिणामिक भाव के आलम्बन से कल्याण होता है उस मंगलमय चैतन्यस्वरूप की सुध न ली जा सके और आदि परद्रव्य जो भी तुझे मिले हैं उनके संयोग में मौज माने, उनके पोषण में तू अपना ध्यान लगाये बड़े-बड़े कष्ट भी सहे, पर शरीर के आराम की ही बात तू सोचता रहे, यों पर के उपकार में रत रहे, इससे क्या सिध्दि है? अब उन शत्रु मित्र आदि परपदार्थों में आत्मीयता की कल्पना तू छोड़ दे।

सहज स्वतत्त्व का उपयोग शान्तिदान में समर्थ—जो मनुष्य समस्त जीवो में उस सामान्य तत्त्व को निरख सकता है जिस तत्त्व की अपेक्षा से सब समान है, तो उसने ज्ञानप्रकाश पाया समझिये। जो इन अनन्त जीवों में से यह मेरा है, यह गैर है, ऐसी बुद्धि बनाता है वह मोह के पक्ष से रंगा हुआ है। उसे शान्ति का मार्ग कहाँ से मिलेगा, वह तो अपनी राग वेदना को ही शान्त करने का श्रम करता रहेगा, ये दृश्यमान पदार्थ तेरे कुछ नही है और न तू कभी उन पदार्थों का हो सकता है। अतः विवेक ज्ञान का आश्रय कर, अपना हित सोच, शान्ति से कुछ रहने का यत्न तो बना, पर की और दृष्टि देने से अशान्ति ही होती है क्योंकि उपकार है स्वाश्रित और इस उपकार को तुमने अपनी कल्पना से बना लिया पराश्रित तो ये परपदार्थ भिन्न है, असार है अध्रुव है तब इनकी और लगा हुआ उपयोग हमें कैसे शान्ति का कारण बन सकता है?

आत्मध्यान का आदेश—भैया ! आत्मध्यान ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। एतदर्थ वस्तु का सम्यग्ज्ञान चाहिए, स्वतंत्र-स्वतंत्र स्वरूप का भान होना चाहिए और इसके लिए कर्तव्य है कि हम ज्ञानार्जन में अधिकाधिक समय दें। गुरुजनों से पढ़े, चर्चाएँ करके, ज्ञानाभ्यास करके अपना उपयोग निर्मल बनाएँ। इस प्रकार यदि ज्ञान की रूचि जगी, धर्म की रूचि बनी तो हमें शान्ति का कुछ मार्ग मिल सकेगा, अन्यथा बहिर्मुखी दृष्टि में तो शान्ति नही हो सकती। इसे इन शब्दों में कहा गया है कि है आत्मन् ! तू पर के उपकार में अभी तक लगा रहा, अर्थात् तेरा जो यह शरीर है वह पर है, और तू इन देहादिक के उपकार में अभी तक जुटा रहा। इसकी और से अपने उपयोग को हटाकर ज्ञानघन आनन्दनिधान अपने उपयोग को हटाकर ज्ञानघन आनन्दनिधान अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को निरख। इसके अनुभव में जो आनन्द बसा हुआ है वह आनन्द संसार में किसी भी जगह न मिल सकेगा। इस कारण अपने उपकार के लिए तत्त्वज्ञान का उपाय कर।

श्लोक 33

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।

जानाति यः स जानाति मोक्ष सौख्यं निरन्तरम्।।३३।।

ज्ञानार्जन के उपायों में दिग्दर्शन—जो जीव गुरुओं के उपदेश से अथवा शास्त्र के अभ्यास से अथवा स्वात्मत्व के अनुभव से स्वपर के भेद को जानता है वही पुरुष मोक्ष के सुख को जानता है। यहां तत्त्वज्ञान के अर्जन के उपाय तीन बताये गए है। पहिला उपाय है गुरु का उपदेश पाना, दूसरा उपाय है शास्त्रों का अभ्यास करना और तीसरा उपाय है स्वयं मनन करके भेदविज्ञान अथवा स्वसम्वेदन करना। इन तीन उपायों में उत्तरोत्तर उपाय बडे है। सबसे उत्कृष्ट उपाय स्वसम्वेदन है। मोक्ष सुख के अनुभव करने के उपायो में सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वसम्वेदन है। उसके निकट का उपाय है शास्त्राभ्यास और सर्व प्रथम उपाय है गुरुजनों का उपदेश पाना।

गुरुस्वरूप का निर्देशन—गुरु वे होते हैं जो बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों से विरक्त रहते हैं। बाह्य परिग्रह है १० । खेत, मकान, अन्न आदि धान्य, रुपया रकम, सोना चाँदी, दासी, दास, बर्तन और कपड़े। इन दसों में सब आ गए और अन्तरंग परिग्रह है १४, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ और ९ प्रकार की नो कषायें। इन १४ परिग्रहों के और १० परिग्रहों के जो त्यागी होते हैं उन्हें गुरु कहते हैं। गुरु आत्मतत्त्व का कितना अधिक रूचिया है कि जिसके सिवाय एक स्वानुभव की वाञ्छा के अन्य कुछ वाञ्छा नही है। वे ज्ञानध्यान तपस्या में ही निरत रहते हैं।

तप, ध्यान व ज्ञान में परस्परता—ज्ञान, ध्यान और तप में सबसे ऊँचा काम है ज्ञान। ज्ञान न रह सके तो दूसरा काम है ध्यान और ध्यान भी न बन सके तब तीसरा काम है तप। यहाँ ज्ञान से मतलब साधारण जानकारी नही है किन्तु रागद्वेषरहित होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना इस स्थिति को ज्ञान कहते हैं, यह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट शान्ति का मार्ग है। जब कोई पुरुष केवल ज्ञाताद्रष्टा नही रह सकता तो उसके लिए दूसरा उपाय कहा गया है ध्यान। ध्यान में चित एकाग्र हो जाता है और उस एकाग्रता के समय में धर्म की और एकाग्रता के काल में इसका विषयकषायों में उपयोग नही रह पाता, इस कारण यह ध्यान भी साधु का द्वितीय काम है और तपस्या भी साधुओं का काम है।

बाह्य तपों में अनशन, ऊनोदर व वृत्तिपरिसंख्यान का निर्देश—तपों में बाह्य तप ६ है—अनशन करना, भूख से कम खाना और अपनी अंतरायों की परीक्षा करने के लिए कर्मों से मैं कितना भरा हुआ हूं, इसकी परीक्षा करने के लिए नाना प्रकार के नियम लेकर उठना। पुराणों में आया है कि एक साधु ने ऐसा नियम लिया था कि कोई बैल अपनी सींग में गुड़ की भेली छेदे हुए दिख जाय तो आहार करूँगा। अब बतलाओ कहाँ बैल और कहाँ गुड़ और सींग में भेली दिखे, किसी समय दिख जाय यह कितना कठिन नियम लिया था? कितने ही दिनों तक उनका उपवास चलता रहा। आखिर किसी दिन कोई बैल किसी बनिया की दूकान के सामने से निकला, उस बैल ने गुड़ की भेली खाने को मुंह दिया, उस बनिया ने उस बैल को भगाना चाहा तो ऐसी जल्दबाजी के मारे बैल की सींग में भेली छिद गयी। जब वह बैल सामने से निकला तो मुनि महाराज की प्रतिज्ञा पूरी हुई और आहार लिया। यह सम्बंध अपने आपके भीतर से है, लोक दिखावे के लिए नही कि हम १० जगह से लौटकर आयेंगे, लोगों में भगदड़ मचेगी और आपस में चर्चा चलेगी कि महाराज की आज विधि नही मिली, क्या इनकी विधि है, यह तो बड़ा भारी तप कर रहे हैं। साधु कभी अपने अंतराय की परीक्षा करना चाहें तो करते हैं। समाज के बीच ही रहते हुए कौन सा कार्य ऐसा खिर गया है जिससे परीक्षा करने की मन में ठानी कि हम परीक्षा करेंगे अंतराय की। यह बहुत दुर्धर तप है। इसका अधिकारी एकांतवासी बनवासी बड़ा तपस्वी हो वह हुआ करता है।

रस परित्याग, विविक्त शय्यासन व कायक्लेश तप का निर्देश व तपों की आदेयता—रस परित्याग—एक दो रस छोड़ना—सब रस छोड़ना, रस छोड़कर भोजन करना रस परित्याग तप है। एकांत स्थान में सोना, उठाना, बैठना, रहना यही विविक्त शय्यासन है, और गर्मी में गर्मी के तप, शीत में शीत के तप और वर्ष काल में वृक्षों के नीचे खड़े होकर ध्यान लगाने का तप, और-और प्रकार के अनेक काय क्लेश हो, इन बाह्य तपों को ये साधुजन किया करते हैं। तपस्या में उपयोग रहने से विषयकषायों से चित हट जाता है और अपने आपके आत्मा के शोधन का उपयोग चलता है, इससे यह तप भी साधुओं को करने योग्य है। यों ज्ञान ध्यान तपस्या में निरत साधुजनों का उपदेश पाकर यह जीव अपने आप में निर्मलता उत्पन्न करता है, स्वपर का भेदविज्ञान होता है।

शान्ति की साधना—शान्ति के लिए लोग अन्य-अन्य बड़ा श्रम करते हैं। वह श्रम ऐसा श्रम है कि जितना श्रम करते जावो उतना ही फंसते जावो, अशांत होते जावो। जिसके पास किसी समय १००) की भी पूंजी न थी और वह आज लखपति हो गया तो उसकी चर्या को देख लो—क्या शान्ति उसने पा ली है ? बल्कि कुछ अशान्ति में वृद्धि ही मिलेगी। जितना अधिक धन अपने पास है उतनी ही चिन्ता उसकी रक्षा की बढ़ती जाती है। मैं धनी हूं, मैं सम्पदावान हूँ, मैं इज्जत वाला हूं—ये सब बातें अज्ञानी जनों के बढ़ती जाती है। तब अशान्ति बढ़ी या शान्ति हुई ? वस्तुतः सम्पदा न अशान्ति करती है और व शान्ति करती है। यह तो अपने-अपने ज्ञान की बात है। भरत चक्रवर्ती ६ खण्ड की विभूति को पाकर अशान्त न रहते थे और दिगम्बर दीक्षा धारण करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही उनके केवलज्ञान हो गया था। उन्होंने गृहस्थावस्था में बड़ी आत्मभावना की थी। घर में रहते हुए भी वैरागी का दृष्टान्त भरत का ही प्रसिद्ध है।

भेदविज्ञान से मोक्ष सौख्य का परिचय—साधु संतों के उपदेश से जो आत्मा और पर का भेदविज्ञान होता है वह आत्मस्वरूप को जानता है और मुक्ति में क्या सुख है, उस सुख को भी पहिचानता है। मुक्ति मायने है छुटकारा मिल जाना। द्रव्यकर्म, शरीर, रागादिक भाव इन सबसे छुटकारा मिलने का नाम है मुक्ति। इनसे छूटे रहने का मेरा स्वभाव है। यह जब तक अनुभव में न आए तब तक वह छुटकारे का क्या उपाय करेगा? यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं और मुझसे भिन्न ये समस्त जड़ पदार्थ है, वे मेरे कभी नही हो सकते। जब तक यों भेदविज्ञान नही होता तब तक आत्मा की पहिचान भी नही होती। चित्त तो लगा है बाहरी और, आत्मा की सुध कौन ले। और ऐसे प्राणी जो मूढ़ है, बहिर्मुख है, धन के लोलुपी है वे अपनी दृष्टि के अनुसार ही जगत में सबको यों देखेंगे कि सभी मोही है, अधर्मी है। पापी पुरुष ऐसा जानते हैं कि सभी ऐसा किया करते हैं क्योंकि उनके उपयोग में जो बसा हुआ है उसका ही दर्शन होगा।

शास्त्राभ्यास की महती आवश्यकता—दूसरा उपाय बताया गया है शास्त्राभ्यास का। शास्त्र का अभ्यास भी सिलसिलेवार ठीक ढंग से पढ़े बिना नही हो सकता। लोग घर के काम, दूकान के काम तो कैसा सिलसिले

से करते हैं कपड़े का काम अथवा सोना चांदी का काम करेंगे तो उस अलमारी में अच्छी तरह रखेंगे, हर काम तो सिलसिले से करते हैं पर धर्म का कार्य ठीक ढंग से सिलसिले से नही करते हैं। शास्त्र पढ़ना हो तो कोई भी शास्त्र उठा लिए और उसकी दो लकीर देख ली, देखकर धर दिया और चल दिया। अगर चार-छः महिलाओं के शास्त्र का नियम हो तो वे सब एक शास्त्र उठा लेंगी जिसमें खुले पन्ने होते हैं तो उस शास्त्र के पन्ने फिर क्रम से न रह पायेंगे क्योंकि एक महिला एक कागज उठायेगी दूसरी उस पर दूसरा कागज धरेगी। किसी-किसी जगह तो इसी के लिए एक शास्त्र रिजर्व रहता है। तो इस तरह का शास्त्र का पढ़ना कुछ भी लाभ नही दें सकता है। संसारी काम से भी बढ़ करके सिलसिला चाहिए शास्त्राभ्यास के लिए। पहिले किन्ही गुरुओं से पढ़ना, क्रमपूर्वक पढ़ना, उसको कुछ अभ्यास में लेना और उसके बाद सिलसिले से उसे पढ़ना। यह शास्त्र का अभ्यास बढ़ाना बहुत काम है। इसमें समय देना चाहिए आजीविका के काम से ज्यादा।

सांसारिक लाभ की उदयानुरूपता—भैया ! आजीविका का काम आपके हाथ पैर की मेहनत से नही बनता, वह तो उदयाधीन है, जैसा उदय हो उस पुण्य के माफिक प्राप्ति होती है। आप १० घंटे बैठें तो और दो घंटे बैठें तो, जो उदय में है वही समागम होता है। अगर लोग नियमितता जान जाये कि ये इतने बजे दूकान खोलते हैं, तो वे ग्राहक उतने ही समय में काम निकाल लेंगे। एक बजाज के ऐसा नियम है कि ५०० का कपड़ा बिक जाने पर फिर दूकान बंद कर दें और अपने नियम पर वह बड़ा दृढ़ रहता है, सो उसकी दूकान के खुलने का जो टाइम है उससे पहिले ही अनेक ग्राहक बैठे रहते हैं, यदि इसका ५०० का कपड़ा बिक गया तो फिर हमें कुछ न मिलेगा। ५०० का कपड़ा घंटा डेढ़ घंटा में ही बिक जाता है और अपनी दूकान वह बंद कर देता है।

अनुकूल उदय में सुगम लाभ—भैया ! लाभ की बात उतनी ही है। जैसे पहिले कभी बाजार की छुट्टी न चलती थी और आजकल बाजार की छुट्टी चल रही है, तो बाजार की छुट्टी हो जाने से व्यापार में हानि नही हुई। अगर कुछ हानि है तो वह और कारणों से हे ऐसे ही समय भी नियत हो गया। १० घंटा दूकान खुलेगी, ८-९ बजे रात को बंद हो जायगी। गर्मी के दिनों में मान लो ८ बजे खुलने का टाइम हो गया, १२ घंटे दूकान चलें, पहिले कुछ समय नियत भी न था। जितने समय तक चाहें उसमें जुटे रहे, तो समय की बंदिश से भी प्राप्ति में हानि नही हुई। तो यदि कोई एक भी व्यक्ति दृढ़ रहकर अपना हित करने के लिए समय निकाले तो उसका उतने ही समय में काम निकल सकता है। यह भी बहुत बड़ी आफत लगी है कि न स्वाध्याय सुन पाते हैं, न कभी धर्म का काम कर पाते हैं। चिन्ता ही चिन्ता रोजगार सम्बंधी लगी है, उसी में ही प्रवृत्ति लगी रहती है। पर धन पाया और धर्म न पाया तो कुछ भी न पाया। जो पाया है वह तो मिट जायगा, किन्तु जो धर्मसंस्कार बन जायगा, जो ज्ञानप्रकाश होगा वह तो न मिटेगा, इस जीवको आनन्द ही बरसायेगा।

धर्मलाभ ही अपूर्व लाभ—भैया ! शास्त्राभ्यास में बहुत समय दो और श्रम भी करो, और व्यय भी करना पड़े तो होने दो, यदि अपने आपका ज्ञान हो जायगा तो समझो उसने सब कुछ निधि पा ली। तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी यदि एक धर्मदृष्टि पायी, आत्मानुभव जगा तो उसने सब पाया। यह ही एक बात न हो सकी और केवल बहिर्मुखदृष्टि ही रही तो उसने क्या पाया ? जो पाया वह सब एक साथ मिट जायगा। लोग यह सोचते हैं कि हम मर जायेंगे, सारा धन यही रह जायगा तो वह अपने बालबच्चों के नाती पोतों के ही तो काम आयगा। मगर मरकर वह जिस भी जगह पैदा होगा उसके लिए तो अब नाती बेटे कुछ भी नही रहे। न उन नाती पोतों के लिए वह कुछ रहा। भला यह तो बतावो कि आपके पूर्व जन्म का माता पिता कौन है, कहाँ है, कुछ भी तो याद नही है। वे चाहे जो सुख दुःख भोग रहे हों, पर अपने लिए तो वे कुछ नही है। इस कारण यह ममता की बात इस जीव को हितकारी नही है।

ज्ञानार्जन व ज्ञानदान की सातिशय निधि—भैया ! जैसे अपने आपमें ज्ञानप्रकाश हो वह काम करने के योग्य है। शास्त्राभ्यास का उपाय प्रथम तो है गुरुमुख से अध्ययन करना, दूसरा है दूसरों को उपदेश देना। जो पुरुष दूसरों को विद्या सिखाता है उसकी विद्या दृढ़ हो जाती है। ज्ञान का खजाना एक अपूर्व खजाना है। धन वैभव यदि खर्च करो तो वह कम होता है पर ज्ञानका खजाना जितना खर्च करोगे उतना ही बढ़ता चला जायगा। तो दूसरों को पढ़ाना यह भी शास्त्राभ्यास का सुन्दर उपाय है। ज्ञानार्जन का तीसरा उपाय है धर्म की चर्चा करे, जो विषय पढ़ा है उसका मनन करे, यों शास्त्राभ्यास से स्व और पर का भेद विज्ञान करना चाहिए। तीसरा उपाय है स्वसम्वेदन। आत्मा अपने आपको जाने, अनुभव करे उसे स्वसम्वेदन कहते हैं। स्व है केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र, उसका सम्वेदन होना, अनुभव होना यह भी ज्ञानका उपाय है। इन सब उपायों से ज्ञानका अर्जन करना चाहिए।

आत्मानुभूति के आनन्द से मुक्ति के आनन्द का परिचय—जो साधु संत ज्ञानी पुरुष आत्मा और पर को परस्पर विपरीत जानता है और आत्मा के स्वरूप का अनुभव करता है उसमें जो इसे आनन्द मिलेगा उस आनन्द की प्राप्ति से यह जान जाता है कि मुक्ति में ऐसा सुख होता है। जब क्षणभर की निराकुलता में, शुद्ध ज्ञानप्रकाश में उसे इसका आनन्द मिला है तो फिर जिसके सब मूल कलंक दूर हो गए है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप रह गया है। उन अरहंत सिद्ध भगवंतों को कैसा सुख होता होगा? वह अपूर्व है और उसकी पहिचान इस ज्ञानी को हुई है। कोई गरीब ४ पैसे का ही पेड़ा लेकर खाये और कोई सेठ एक रूपये का एक सेर वही पेड़ा लेकर खाये पर स्वाद तो दोनों को एकसा ही आया, फर्क केवल इतना रहा कि वह गरीब छककर न खा सका, तरसता रहा, पर स्वाद तो वह वैसा ही जान गया। इसी तरह गृहस्थ ज्ञानी क्षणभर के आत्मस्वरूप के अनुभव में पहिचान जाता है—भगवंतों को किस प्रकार का आनन्द है, भले ही वह छककर आनन्द न लूट सके लेकिन जान जाता है । यों यह ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञान से मुक्ति के सुख को निरन्तर पहिचानता रहता है।

श्लोक 34

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।

स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।।३४।।

स्वयं के द्वारा ही स्वयं के कल्याण का यत्न—यह जीव उत्तम प्रयोजन की अपने आपमें भी अभिलाषा करता है और उत्तम प्रयोजन के कार्य का खुद ही ज्ञान करता है और हित का प्रयोग भी यह स्वयं ही करता है। इस कारण आत्मा का गुरु वास्तवमें आत्मा ही है। लोक में जब किसी का कोई अभीष्ट गुजर जाता है और उसके हृदय बड़ा धक्का लगता है तब उस विह्वल पुरुष को समझाने के लिए अनेक रिश्तेदार अनेक मित्र खूब समझाते हैं और उपाय भी उसके मन बहलाने का करते हैं किन्तु कोई क्या करे, जब उसके ही ज्ञान में सही बात आये, भेदविज्ञान जगे, तब ही तो उसे संतोष हो सकेगा, दूसरे हैरान हो जाते हैं, पर स्वयं समझे तो समझ आये। इससे यह सिद्ध है कि स्वयं के किए से ही फल मिलता है। यहाँ मोक्षमार्ग प्रकरण की बात कही जा रही है। उत्तम बात की अभिलाषा यह जीव स्वयं ही करता, स्वयं में करता और ज्ञान व आचरण भी स्वयं करता है। तब अपना घर परमार्थ से तो स्वयं ही है, किन्तु इससे प्राक् पदवी में यह दोष ग्रहण नही करना चाहिए कि लो शास्त्र में तो कहा है कि आत्मा का गुरु आत्मा ही है। अब दूसरा कौन गुरु है, सब पाखण्ड है, सब ऐसे ही है, ऐसा संशय न करना चाहिए क्योंकि जिस किसी को भी अपने परमार्थ गुरु का काम बना, ध्यान बना, ज्ञानप्रकाश हुआ उसको भी प्रथम तो गुरु का उपदेश आवश्यक ही हुआ।

आत्मलाभ में देशना की प्रथम आवश्यकता—भैया ! कोई भी हो वह पुरुष किसी न किसी रूप में ज्ञानी विरक्त गुरुवों का उपदेश लगे तब उसकी आँखे खुलती है। प्रथम गुरु की देशना सबको मिली है, कोई ऐसे पुरुष होते हैं जिनको गुरु को कोई नियोग नही मिला और स्वयं ही अपने आप तत्त्वज्ञान जगा, उनको भी इस भव में नही तो इससे पूर्वभव में गुरु की देशना अवश्य मिली थी। यह तो शास्त्र का नियम है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति में ५ लब्धियाँ होती है। सम्यग्दर्शन किसके होता है और किस विधि से होता है, उसके समाधान में कहा गया है कि ५ लब्धियाँ हो तो सम्यग्दर्शन हो उसमें देशना तो आ ही गई।

सम्यक्त्व की पांच लब्धियों में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धि—सम्यक्त्व की लब्धियों में पहिली लब्धि है क्षयोपशम लब्धि। कर्मों का क्षयोपशम हो, उदय कुछ कम हो तब इसकी उन्नति का प्रारम्भ होता है। जब इस प्रकार का क्षयोपशम हो तो दूसरी लब्धि पैदा होती है उसका नाम है विशुद्धि लब्धि। किसी उत्कृष्ट चीज के लाभ का नाम लब्धि है, परिणाम उसका उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है। जिसकी कषायें मंद हो वही पुरुष तो गुरु के सम्मुख बैठ सकेगा, गुरु की विनय कर सकेगा, गुरु की बात ग्रहण कर सकेगा। ऐसा व्यक्ति जो कषायों में रत रहता है वह गुरु की देशना सुनेगा ही क्यों? तो जब विशुद्धि बढ़ी, जब यह गुरु के उपदेश

का लाभ प्राप्त करता है। यहाँ तक तो कुछ बुद्धिपूर्वक उद्यम की बात रही। अब इसके बाद स्वयं ही ऐसा परिणाम निर्मल होता है। जिसके प्रताप से कर्मों का बंध और बहुत बड़ी स्थिति वह घटाने लगता है, कम स्थिति का कर्म बाँधने लगता है। और उसही दरम्यान में ३४ अवसर ऐसे आते हैं जिनमें जो नियत प्रकृतियाँ है उनका बंध रूक जाता है। यह मिथ्यादृष्टि जीव की ही बात कह रहे हैं अभी। जिसको सम्यक्त्व पैदा होने वाला है ऐसे मिथ्यादृष्टि की निर्मलता बतायी जा रही है। यों बंधापसरण भी करते हैं और स्थिति का बंध भी कम करते जाते हैं। तो इसके बाद फिर करणलब्धि पैदा होती है।

सम्यक्त्व की नियामिका करणलब्धि—प्रायोग्यलब्धि नाम है उसका जिससे बंधापसरण होता है और स्थिति कम होती है इन चार लब्धियों तक तो अभव्य भी चल सकता है जिसको कभी सम्यग्दर्शन नही होना है, ऐसा अभव्य जीव भी चार लब्धियों का लाभ ले सकता है, किन्तु करणलब्धि उनके ही होती है, जिनको नियम से अभी ही सम्यग्दर्शन होना है, उन करणों का नाम है अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन करणों का ८वें, ९वें गुणस्थान से सम्बन्ध नही है। जो अभी कहे जा रहे हैं, ये तो मिथ्यादृष्टि के हो रहे हैं अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। सम्यक्त्व उसके प्रताप से उत्पन्न होता है। तो इस विधि से आप जान गये होंगे कि सम्यग्दर्शन के लिए गुरु का उपदेश आवश्यक है, लेकिन यहाँ परमार्थ स्वरूप कहा जा रहा है कि गुरु का उपदेश भी मिले और न माने जरा भी तो क्या लाभ होगा? जैसे कहावत है कि पंचों की आज्ञा सिर माथे पर पनाला यहीं से निकलेगा, ऐसे ही शास्त्रों की बात सिर माथे, गुरु की बात सिर माथे, पर धन वैभव घर, कुटुम्ब इनमें मोह वही का वही रहेगा। इनमें अन्तर न आए तो उसका फल खुद को ही तो मिलेगा।

स्वयं का हित स्वयं के ही द्वारा संभव—भैया ! सत्य आनन्द चाहो तो मोह में ढिलाव खुद को ही तो करना पड़ेगा। ऐसा कोई गुरु न मिलेगा जिससे कह दें गुरुजी कि आप ऐसा तप कर लो जिससे मुझे सम्यग्दर्शन हो जाय। जैसे पंडों से कह देते हैं ग्रहशान्ति के लिए कि तुम एक लाख जाप हमारे नाम पर कर दो तो हमारा उपसर्ग टल जायगा। उसका उपसर्ग टले या न टले, पर उस पंडा का उपसर्ग तो तुरन्त टल जायगा। जो सामग्री लिखी—इतना सोना, इतना चाँदी, पंचरत्न, अनेक नाम ऐसे रख लिए कि पंडा का उपसर्ग तो टल जाता है। भला, दूसरे के विग्रह को कौन टालेगा? ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नही है। कोई गुरु को नाम का ध्यान करे, तप करे, उपदेश सुने, सत्संग में रहे किन्तु खुद के ही परिणामों में योग्य परिवर्तन न करे तो काम न चलेगा। तब स्वयं का गुरु स्वयं ही हुआ। जो आत्महितकारी उपदेश देता है अथवा अज्ञान भाव को दूर करता है वही वास्तवमें मेरा गुरु है, यह तो व्यवहार की बात है, ऐसे आचार्य उपाध्याय आदिक हो सकते हैं, लेकिन वे निमित्तरूप रहें इस कारण व्यवहार में गुरु हुए।

औपचारिक व्यवहार—क्या कोई गुरुजन शिष्य के आत्मा को, भक्तों के उपयोग को सम्यग्दर्शन रूप परिणमा सकते है? कभी नही। व्यवहार में लोग कहा करते हैं कि तुम्हारे सुख से हमें सुख है, तुम्हारे दुःख में हमें दुःख

है, यह सब मोह में कहने की बात है, ऐसा कभी हो ही नही सकता कि किसी दूसरे के परिणमन से किसी दूसरे को सुख दुःख मिले। यह तो एक मोह में बकवाद है। कितने ही लोग कहते हैं कि हमारा दिल तो तुम ही में धरा है, पर ऐसा हो ही नही सकता कि किसी का दिल किसी दूसरे के दिल में धर जाय। जिस वस्तु का जो परिणमन है वह उस वस्तु में ही सन्निहित रहेगा, अन्यत्र पहुंच नही सकता। जो ऐसी गप्पें मारते हैं उनकी पूरी परीक्षा करना हो तो उनके मनके खिलाफ दो एक काम कर बैठो, सब निर्णय सामने आयगा।

परमार्थ गुरु—आजकल कितना अच्छा हमें संयोग मिला है? गुरुजनों का हितकारी उपदेश भी मिलता है लेकिन स्वयं ही इस प्रकार की अभिलाषा करे, ध्यान जमायें, आचरण करे तो मोक्षमार्ग नही मिलता, वह केवल निमित्तरूप कारण है इसलिए वास्तविक गुरु तो आत्मा का आत्मा ही है क्योंकि आत्मसुख की प्राप्ति हो, मोक्ष मिले ऐसी रूचि भी इसको ही करना होता है। परमार्थ से मेरे हितरूप तो मोक्ष ही है ऐसा यथार्थज्ञान इसको ही करना होता है, ऐसा यत्न, ऐसी भावना और इस प्रकार की प्रवृत्ति इस ही को करना पड़ती है। तब गुरु स्वयं का स्वयं ही हुआ ना। कोई दोष बन जाय तो इसको ही अपनी निन्दा, गर्हा, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, ध्यान ये सब इसको ही करने पड़ते हैं तब दोषों की शुद्धि होती है। कल्याण के लिए विषय सुखों से सुख मोड़ना प्रथम आवश्यक है। यह भी एक तप है जो सुगम मिले हुए विषयसाधनों में भी आसक्ति उत्पन्न नही होती। वह बात स्वयं को ही करना पड़ता है।

स्वयं के कार्य में स्वयं का कर्तृत्व—भैया ! जैसे और कामों में लोग कहते हैं चलो रहने दो, यह काम हमी करें आते हैं। शायद कोई ऐसा भी कह देता हो कि चलो तुम यहाँ ही बैठो हम ही दर्शन किए आते हैं, तुम्हारा जगह पर मंदिर का दर्शन हम कर आयेंगे और कह आयेंगे कि हमारे बब्बू का भी दर्शन ले लो। ऐसा तो शायद कोई भी न कहता होगा, और ऐसा कह भी दिया यदि किसीने तो क्या दर्शन हो गया? ध्यान और ज्ञान के अंतः प्रयोग की बात तो सबसे अनोखी बात है। खुद को ही ज्ञान ध्यान तप में रत होना पड़ता है और स्वयं ही स्वयं में प्रसन्न रहे तब मोक्षमार्ग मिलता है, इसलिए आत्मा का गुरु यह आत्मा ही हुआ, आत्मा चाहे तो अपने को संसारी बनाए और चाहे तो मोक्ष सुख में ले जाए, दूसरा मेरी परिणति का अथवा स्वभाव का कर्ता धर्ता नही है। स्वयं ही शुभ भाव करता है तो उत्तम गति पाता है और स्वयं ही कुभाव करता है तो खोटी गति पाता है, और शुभ और अशुभ भावों का परित्याग करके आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जब यह विचरने लगता है तो कर्म बंधनों को तोड़कर मुक्ति को भी यह अकेले प्राप्त करता है। यही जीव भ्रमी बनकर संसार में रूलता है।

कथन और आचरण—विषयों से मुझे सुख मिलता है ऐसी भीतर में वासना बसी है, मुख से कुछ भी कहे, धर्म के नाम पर ज्ञान और वैराग्य की बात भी कहें किन्तु प्रतीति में वही विषय विषरस भरा है सो ऐसी हालत हो जाती है जैसे सुवा पाठ रटता रहता है, उड़ मत जाना, नलनी पर मत बैठ जाना, बैठ जाना, तो

दाने चुगने की कोशिश न करना, दाने चुगना तो उसमें औंध न जाना औंध भी जाना तो नलनी को छोड़कर उड़ जाना। पाठ याद है लेकिन अंतरंग में प्रेरणा जगती है विषयवासना की, तृष्णा की। मौका पाकर वह तोता पिंजड़े से उड़ गया, नलनी पर बैठ गया, दाने चुगने लगा, उलट गया और कही मैं गिर न जाऊं इस ख्याल से वह नलनी को ही पकड़े रहता है। ऐसे ही जिसके अन्तर में भ्रमवासना बसी है वह पूजा भी करता जाय, पाठ भी पढ़ता जाय, साथ ही विषय कषायों में बुद्धि भी बनी है, ऐसा भ्रमी पुरुष शान्ति संतोष कहाँ से पायगा? विवेक जाग्रत हो तो जैसे वह तोता नलनी को छोड़कर उड़ जायगा।

स्वयं की उलझन और सुलझन—भैया ! विवेक जागृत हो तो भीतर में ही तो एक सही ज्ञान बनाना है। कुछ घरके लोगों से यह नही कहना है कि तुम नरक में डुबाने वाले हो, ऐसी गालियां नही देना है किन्तु अन्तरंग में ऐ समझ भर बना लेना है कि मेरा मात्र मैं ही हूं जैसा भी मैं अपने को रच डालूँ। इस अज्ञानी प्राणी ने अपने ही अज्ञान से अपने ही अन्याय से इन संसार के बन्धनों को बढ़ाया है। अब बन्धनों को कौन तोड़ेगा। यह आत्मा स्वयं ही तोड़ेगा। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति रूप यह स्वयं ही परिणमेगा। अरहंत अवस्था तो इसके स्वयं के ही स्वसम्वेदन से प्रकट होगी और समस्त कर्मों से मुक्त होकर शाश्वत सुख और पूर्ण निरञ्जनता को यही अकेला प्राप्त करेगा।

स्वयं का कर्तव्य—इससे यह शिक्षा लेनी है कि हमारे करने से हमारा कल्याण है दूसरे के प्रयत्न से हमारा कल्याण नही है। घरके आंगना में कोई आसपास की भीत गिर जाय और आंगन में इकट्ठी हो जाय तब तो यह बुद्धि चलती है कि यह आंगन हमें ही साफ करना पडेंगा, कोई दूसरा साफ करने न आ जायगा। ऐसे ही यहाँ समझो कि भ्रम से खुद में दोष भर गए है तो उन दोषों का निराकरण खुद के ही पुरुषार्थ से होगा, दूसरा कोई मेरी गंदगी निकालने न आ जायगा।

ज्ञानवैभव—यथार्थ ज्ञान होना सबसे अलौकिक वैभव है। धन, कन, कंचन, राजसुख सब कुछ सुलभ है किन्तु आत्मा के यथार्थ स्वरूप का यथार्थ बोध होना बहुत कठिन है। यह वैभव जिसने पाया है समझिए उन्होने सब कुछ प्राप्त कर लिया, एक इस ज्ञाननिधि के बिना यह जीव वैभव के निकट बसकर भी हीन है, गरीब है, अशान्त है। इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करके एक इस आत्मज्ञान को उत्पन्न करे, यही शरण है।

श्लोक 35

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेधर्मास्तिकायवत्।।३५।।

जो पुरुष अज्ञानी है, तत्त्वज्ञान की जिनमें उत्पत्ति नही हो सकती है अथवा कहिए अभव्य है वे किसी भी प्रसंग से ज्ञानी नही हो पाते हैं। और जो ज्ञानी है, जिनके तत्त्वज्ञान हो गया हे वे अज्ञानी नही हो सकते। अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान को प्राप्त नही करते और ज्ञानी जीव मोह को प्राप्त नही होते ।

ज्ञान विकास व अज्ञान परिहार—जैसे बाहर रस्सी पड़ी हुई है और उसमें किसी को सांप का भ्रम हो गया है तो जब तक सांप का भ्रम बना हुआ है उस भ्रमों को ज्ञान नही हो पाता है, और जब ज्ञान हो गया, जान लिया कि यह रस्सी ही है तब उसके भ्रम नही हो पाता है, अथवा अज्ञानी से ज्ञानी बनने के लिए स्वयं में ही तो अज्ञान का परिहार करना होगा और स्वयं में ही ज्ञान का विकास करना होगा। गुरु विकास नही करते। विकास हो रहा हो तो अन्य गुरु जन निमित्तमात्र होते हैं। जैसे जीव पुद्गल जब चलने को उद्यत होते हैं तो धर्मद्रव्य निमित्त है, पर धर्मद्रव्य चला नही देता। पानी में मछली है, जब वह चलती है तो उसके चलाने में पानी कारण है, पर पानी मछली को चलाता नही है। चलना चाहे मछली तो निमित्त मौजूद है। ऐसे ही जो पुरुष अज्ञान को छोड़कर ज्ञानी होना चाहता है अथवा ज्ञानी होने को उद्यत है उसको गुरुजन निमित्त मात्र है।।

उपादान सिद्धता—भैया ! जो ज्ञानी बनना चाहता है उसको कहाँ रूकावट है। शास्त्र है, गुरु है, साधर्मियों का संग है, सब कुछ प्रसंग हे, कहाँ अटक है कि मुझे साधन नही है, मैं कैसे ज्ञान पैदा करूँ? जिसे ज्ञान नही पैदा करना है उसको निमित्त ही कुछ नही बन पाते हैं। वह ही चीज दूसरों के लिए निमित्त बन गई जो ज्ञानी होना चाहते हैं और जो ज्ञानी नही होना चाहते हैं उनके लिए कुछ निमित्त नही है। प्रत्येक पदार्थ में परिणमन की शक्ति हे। पदार्थ मे जो शक्ति है उसका परिणमन स्वयं का ही कार्य बनता है। उस कार्य के समय अन्य पदार्थ निमित्त मात्र है। जैस इस समय जो श्रोता यह रूचि करता हो कि मुझे तो अपने ज्ञानस्वरूप में अपने उपयोगों को लगाना है और अपना ध्यान अच्छा बनाना है तो उसके लिए तो शास्त्र के वचन निमित्त हो जायेंगे, पर जिनके ऐसी रूचि नही है, जिनका उपयोग भ्रम में बना हुआ है उनके लिए ये शास्त्र के वचन निमित्त नही है। सब जीवों के स्वयं के उपादान की विशेषता है।

उपादान और निमित्त प्रसंग—पूर्व श्लोक में कहा गया था कि परमार्थ से आत्मा का आत्मा ही गुरु है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपने में उत्तम हित की अभिलाषा रखता है, उसका ज्ञान और उस रूप आचरण भी यह स्वयं करता है इस कारण अपना गुरु यह स्वयं है। ऐसी बात आने पर यह शंका होती है तो फिर गुरुजन और उनके उपदेश ये सब बेकार हे क्या? उसके उत्तर में यह कहा गया कि वास्तव में तो जितने भी कार्य होते हैं, चाहे कोई ज्ञानरूप परिणमे चाहे कोई अज्ञानरूप परिणमें तो यह उसके उपादान से होता है। वहाँ अन्य जन, पदार्थ तो निमित्तमात्र होते हैं और उसके उदाहरण में दृष्टान्त देते हे, जैसे जीव पुद्गल जब चलने को उद्यत होते हैं तो अपनी उपादान शक्ति से चलते हैं। उस समय में धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है।

सिद्धि का आधार और उसका निमित्त—भैया उपादान व निमित्त की स्वतंत्रता के अनेक उदाहरण ले लो। चूल्हे पर ठंडा पानी रखा हुआ है, तो पानी जो गर्म होता है वह आग की परिणति से नही गर्म होता है, उस पानी मे स्वयं गर्म होने की शक्ति है। वह पानी अपने उपादान से ही गर्म होता है। हाँ उस सम्बंध मे निमित्त अग्नि अवश्य है, पर आग की परिणति पानी में आकर पानी को गर्म कर रही हो, ऐसा नही है। जैसे आप सब सुन रहे हैं, जो बातें हम कह रहे हैं वे बातें आप सब ज्ञान में ला रहे हैं, स्वयं ही अपने अन्तर में ज्ञान का पुरुषार्थ करके जान रहे हैं, हम आपमें ज्ञान की परिणति नही बना सकते हैं। हाँ उस तरह के ज्ञान के विकास में ये वचन निमित्त मात्र हो रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके उपादान से परिणत होता है, बाह्यपदार्थ निमित्तरूप सहकारी होते हैं।

अयोग्य उपादान में विवक्षित सिद्धि का अभाव—जिसमें परिणमने की शक्ति नही है उसमें कितने ही निमित्त जुटे, पर वह परिणमता नही है। जैसे कुरडूं मूँग में पकने की शक्ति नही है तो आप उसे चार घंटे भी गर्म पानी में पकावें तो भी नही पक सकती। अज्ञानी पुरुष में अभव्य में, जिसका होनहार अच्छा नही है ऐसे मिथ्यादृष्टियों में ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता नही है, अतएव वहाँ कितने ही निमित्त मौजूद हो तो भी वे लाभ नही उठा सकते, क्योंकि उपयोग गंदा है। जिन निमित्तों को पाकर सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी बन सकता है उन ही निमित्तों को पाकर मिथ्यादृष्टि मोही अज्ञानी जीव दोष ग्रहण करने लगता है। यह सब अपने-अपने उपादान के योग्यता की बात है।

लब्धि के बिना विकास का अवरोध—यदि आत्मा में एक ज्ञान प्राप्त करनेका क्षयोपशम नही है, तत्त्वज्ञान की योग्यता नही है उन अभव्य जनों को सैकड़ो धर्माचार्यों के उपदेश भी सुनने को मिलें तो भी वे ज्ञानी नही हो सकते, क्योंकि कोई पदार्थ किसी भी अवस्था को छोड़कर कोई नई अवस्था बनाए तो उसमें उस पदार्थ की क्रिया और गुणों की विशेषता है, दूसरा तो निमित्त मात्र है। प्रयोग करके देख लो—बगुला पढ़ नही सकता कभी तोते की भांति, वह अक्षर नही बोल सकता तो बगुला को पालकर यदि उसे वर्षों तक भी सिखावो तो क्या वह बोल लेगा? नही बोल सकता। उसमे उस तरह परिणमने की शक्ति ही नही है। तोते में बोलने की योग्यता है, चाहे वह न समझ पाये बोलने का भाव, किन्तु उसका मुख उसकी जिह्वा व चोंच ऐसी है कि कुछ शब्द वह मनुष्यों की तरह बोल सकता है। कितने ही लोग तो तोते को चौपाई तक सिखा देते हैं। कोई गद्य में बात सिखा देते हे। वह तोता बोलता रहता है। तो जैसे बगला सैकड़ो प्रयत्न करने पर भी बोल नही सकता है इसी प्रकार अभव्य जीवों के अज्ञानी जीवों के चूँकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न करने की योग्यता नही है, इस कारण कितने ही ज्ञानी पुरुषों के उपदेश मिले, कितने ही निमित्त साधन मिलें तो भी वे ज्ञानी नही बनाये जा सकते हैं। उपादान ही विपरीत है तो वे ज्ञान को कैसे ग्रहण करेंगे? बल्कि वे अज्ञान ही ग्रहण करेंगे।

योग्यतानुसार परिणमन—जब तीर्थंकरों का समवशरण होता था उस समवशरण में अनेक जीव अपना कल्याण करते थे और अनेक जीव उस समय ऐसे भी थे कि प्रभु को मायावी, इन्द्रजालिया, ऐसे अनेक गालियों के शब्द कहकर अपना अज्ञान बढ़ाया करते थे, वे कल्याण का पथ नही पा सकते थे। हुआ क्या, प्रभु तो वही के वही, अनेकों ने तो कल्याण प्राप्त कर लिया और अनेकों ने दुर्गतियों का रास्ता बना लिया। ये सब जीवों की अपनी-अपनी योग्यता की बातें है। जो पुरुष अज्ञान दशा को छोड़कर ज्ञान अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं वे अपनी ही योग्यता से ज्ञानी बनते हैं। अन्य जन तो निमित्तमात्र है, ऐसे ही जो पुरुष पाप करना चाहते हैं पापों में मौज मानते हैं वे अपनी ही अशुद्ध परिणति से पापों का परिणाम बनाते हैं। अन्य जो विषयों के साधन है वे निमित्तमात्र है।

योगीश्वरों का ज्ञान से अविचलितपना—जो योगीश्वर सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से मोहान्धकार को नष्ट कर देते हैं, जो तत्त्व दृष्टि वाले हैं, यथार्थ ज्ञानी है, शान्तस्वभावी है, ऐसे योगीश्वर किसी भी प्रसंग में अपने ज्ञानपथ को नही छोड़ते हैं। यह साहस सम्यग्दृष्टि में है कि कैसा भी विपदा, कैसा भी उपसर्ग आ जाय तिस पर भी वे अपने ज्ञानस्वभाव को नही छोड़ सकते। परपदार्थ कैसे ही परिणमे, पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष उसके ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहते हैं। किसी कवि ने कहा है कि गाली देने वाला पुरुष गाली देता है और सज्जन पुरुष विनय प्रकट करता है, तो जिसके समीप जो कुछ है उससे वही तो प्रकट होगा।

परिणमन की उपादानानुसारिता—ज्ञानी पुरुष दूसरों के गुण ग्रहण करता है, दोष नही ओर अज्ञानी पुरुष दूसरों के गुण नही ग्रहण कर सकता, दोष ही ग्रहण करेगा। जो जैसा है वह वैसा ही परिणमता है, कहाँ तक रोका जाए ? मूर्ख पुरुष किसी सभा में सजधज कर बैठा हो तो कहाँ तक उसकी शोभा रह सकती है? आखिर किसी प्रसंग में कुछ भी शब्द बोल दिया तो लोग उसकी असलियत जान ही जायेंगे। तोतला आदमी बड़ा सजधज कर बैठा हो मौज से तो उसकी यह शोभा कब तक है जब तक कि वह मुख से कुछ बोलता नही है। बोलने पर तो सब बात विदित हो जाती है। जो लोग भीतर से पोले हैं और आर्थिक स्थिति ठीक नही है और बहुत बड़ी सजावट करके लोगों में अपनी शान जताये तो देखा होगा कि किसी प्रसंग में वे हँसेंगे तो वह हँसी कुछ उड़ती हुई सी रहती है, और जानने वाले जान जाते हैं कि ये बनकर हँस रहे हैं, इनके चित्त में इस प्रकार की स्वाभाविक हँसी नही है जो स्वाभाविक बात आ सके। कहाँ तक क्या चीज दबाई जाय, जिसमें जैसा उपादान है वह अपने उपादान के अनुकूल ही कार्य करेगा।

प्रत्येक प्रसंग में ज्ञानी की अन्तःप्रतिबुद्धता—तत्त्वज्ञानी पुरुष ज्ञान का ही कार्य करेगा और अज्ञानी पुरुष अज्ञान का ही कार्य करेगा। जैसे स्वर्ण धातु से लोहे का पात्र नही बनाया जा सकता और लोहे की धातु से स्वर्ण का पात्र नही बनाया जा सकता अथवा गेहूं बोकर चना नही पैदा किया जा सकता और चना बोकर गेहूं नही पैदा किया जा सकता। ऐसे ही अज्ञानी जीव, अभव्य जीव धर्म के नाम पर बहुत बड़ा ढोंग रचे तिस पर भी उनके

अंतरंग ज्ञान कैसे प्रकट हो सकता है और ज्ञानी पुरुष किसी परिस्थिति में अयोग्य भी व्यवहार करता हो तो भी वह भीतर में प्रतिबुद्ध रहता है। श्री राम का दृष्टान्त सब लोग जानते हैं। जब लक्ष्मण की मृत्यु हो गई थी उस समय उनको कितनी परेशानी और विह्वलता थी? जब सीता का हरण हुआ था उस समय भी कितनी विह्वलता थी? उस समय के लोग उन्हें अपने भीतर में पागल कहे बिना न रहते होंगे, वह स्थिति बन गयी थी। किन्तु वे महापुरुष थे, रहे।

श्रीराम की अन्तःप्रतिबुद्धता का उदाहरण—भैया ! कैसे जाना कि राम संकटकाल में भी प्रतिबुद्ध थे? तो एक दो दृष्टान्त देख लो। जिस समय श्रीराम और रावण का युद्ध चल रहा था उन दिनों में रावण शान्तिनाथ चैत्यालय में बैठकर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। लोगों ने राम से कहा कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। उसने यह विद्या यदि सिद्ध कर ली तो फिर उसका जीतना कठिन है, इस कारण विद्या सिद्ध न होने दे, उसमें विघ्न डाले, उसका उपयोग भ्रष्ट कर दे, इसकी ही इस समय आवश्यकता है। तब राम बोले कि वह चैत्यालय में बैठा है, अपनी साधना कर रहा है, उसमें विघ्न करनेका हमें क्या अधिकार? राम ने इजाजत नही दी कि तुम रावण की इस साधना में विघ्न डालों। विवेकी थे तभी तो विवेकी की बात निकली। फिर क्या हुआ यह बात अलग है। कुछ मनचले राजाओं ने वहाँ जाकर थोड़ा बहुत उपद्रव किया। राजाओं द्वारा उपद्रव किया जाने पर भी रावण अपनी साधना से विचलित नही हुआ। तब जो विद्या अनेक दिनों में सिद्ध हो सकती थी वह मिनटों में ही सिद्ध हो गई।

निर्भयता के लिये अन्तःसाहस की आवश्यकता—भैया ! खुद मजबूत होना चाहिए फिर क्या डर है? स्वयं ही कायर हो, भयशील हो तो दुःखी होगा ही। कोई दूसरा पुरुष उसे कदाचित् भी दुःखी नही कर सकता। मैं ही दुःख के योग्य कल्पना बनाऊँ तो दुखी हो सकता हूं। क्या दुःख है, दुःख सब मान रहे हैं। हर एक कोई यह अनुभव करता है कि मेरे पास जो वर्तमान में धन है वह पर्याप्त नही है, मेरी पोजीशन को बढ़ाने वाला नही है। इस कल्पना से सभी जीव दुःखी है और देखो तो कही दुःख नही है, जिसके पास जो स्थिति है उससे भी चौथाई होती तो क्या गुजारा न होता? जिसके पास इस सम्पत्ति का हजारवां भाग भी नही है क्या उसका गुजारा नही होता है? होता है और उनके सद्बुद्धि है तो वे धर्म में लगे हुए है। क्या कष्ट है, पर कल्पना उठ गई इससे सुख सुविधाओं का भी उपयोग सही नही किया जा सकता।

बुद्धि के अनुसार घटना का अर्थ—जिसका जैसा उपादान है। वह अपने उपादान के अनुकूल ही कार्य करेगा। एक नाव में कुछ लोग बैठे थे। कुछ गुण्डों ने उनको गालियाँ दी तो वे समता से सहन कर गए। वे गुण्डे यह कहते जाये कि ये चोर है, बदमाश है, झूठे है, ढोंगी है आदि तो साधु कहते हैं कि ये लोग ठीक कह रहे हैं हम चोर है, बदमाश है। झूठे है अन्यथा इस संसार में क्यों भटकते? आप लोग इन पर क्यों नाराज होते हो? खैर जब तक बातें हुई तब तक तो ठीक, लेकिन एक उद्दण्ड ने एक साधु के सिर में तमाचा भी मार दिया। तो

वह साधु कहता है कि आप लोग इस पर नाराज मत होओ। यह भाई यह कह रहा है कि तुमने अपना सिर प्रभु के चरणों में भक्तिपूर्वक नमाया नही है इसलिए यह सिर तोड़ने योग्य है, यह मुझे शिक्षा दे रहा है। नाराज मत होओ। चीज वही की वही है, चाहे गुण ग्रहण करने लायक कल्पना बना लें और चाहे दोष ग्रहण करने लायक कल्पना बना ले। ज्ञानी पुरुष गुण ग्रहण की कल्पना बनाते हैं और अज्ञानी पुरुष दोषग्रहण करने की कल्पना बनाते हैं जो पुरुष दूसरों के दोष ग्रहण कर रहा है उसने दूसरे का बिगाड़ा क्या, खुद का ही उसने बिगाड़ कर लिया।

योग्यता की संभाल में ही सुधार—जितने भी पदार्थ हे वे सब अपनी योग्यता के अनुकूल परिणमते हैं। इन सब कथनों से यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी बनने की सामर्थ्य भी अपनी आत्मा में है और अज्ञानी बनने की सामर्थ्य भी अपनी आत्मा में है। गुरुजन तो बाह्य निमित्त कारण है। जिसे कामी बनना ही रूचिकर है उसको फोटो या कोई स्त्री पुरुष रूपवान कुछ भी दीखे तो सब निमित्तमात्र है, पर स्वयं में ही ऐसी कलुषता है योग्यता है जिसके कारण वे काम के मार्ग में लग जाते हैं। कोई पुरुष क्रोध स्वभाव वाला है, उसको जगह-जगह क्रोध आने का साधन जुट जाता है और कोई शान्तस्वभावी है तो उसे किसी भी विषय में क्रोध नही आता है। इससे यह जानना कि अपनी योग्यता संभाले बिना अपने आपका सुधार कभी हो नही सकता है।

उपादान के परिणमन में अन्य का निमित्तपना—भैया ! दूसरे का नाम लगाना क्या करे, अमुक है, ऐसा है इसलिए हमारा काम नही बनता, ये सब बहानेबाजी है। राजा जनक के समय में एक गृहस्थ आया, जनक बैठे थे। बोले महाराज हम बहुत दुःखी है, मुझे गृहस्थी ने फंसा रक्खा है, धन वैभव ने हमें जकड़ रक्खा है, मुझे साधुता का आनन्द नही मिल पाता है, तो आप कोई ऐसा उपाय बताओ कि वे सब मुझे छोड़ दे ? तो जनक से कुछ उत्तर ही न दिया गया। और सामने जो खम्भा खड़ा था उसको अपनी जोट में भर कर कुछ चिल्लाने लगे कि भाई-भाई मैं क्या करूँ, मुझे तो इस खम्भे ने जकड़ लिया है। मैं कुछ जवाब नही दे सकता। मुझे यह खम्भा छोड़ दे तो फिर जवाब दूँ, । तो गृहस्थ बोला—महाराज ! कैसे आप भूली-भूली बातें करते हैं। अरे खम्भे ने आपको जकड़ लिया है कि आपने खम्भे को जकड़ लिया है ? तो राजा जनक कहते हैं कि बस यही तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। धन, दौलत, कुटुम्ब ने तुमको फंसा रक्खा है कि तुमने खुद उनको फंसा रक्खा है तो कोई किसी को न ज्ञानी बना सकता है, न अज्ञानी बना सकता है। निमित मात्र अवश्य है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरुओं की सेवा सुश्रूषा करना कर्तव्य है, उनमें श्रद्धा भक्ति कर्तव्य हे, परन्तु परमार्थ से अपने आत्मा को ही अपना मार्ग चालक जानकर अपने पुरुषार्थ और कर्तव्य का सदा ध्यान रखना चाहिए।

श्लोक 36

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः।

अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः।।३६।।

आत्मतत्त्वाभ्यास की प्रेरणा—जिसके चित्त में किसी भी प्रकार का विक्षेप नही है अर्थात् रागद्वेष की तरंग की कलुषता नही है, तथा जिसकी बुद्धि एकान्त में तत्त्व में लगा करती है ऐसा योगी निज तत्त्व का विधिविधान सहित योग साधना समाधि सहित ध्यान का अभ्यास करता है। आत्मस्वरूप के अभ्यास का उपाय क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्लोक में यह बताया है कि रागद्वेष का क्षोभ न हो तो तत्त्वचिन्तन का अभ्यास बने। रागद्वेष का क्षोभ न हो इसके लिए यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान चाहिए। सो सर्वप्रयत्न करके अध्यात्मयोगार्थी को आत्मतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

सर्वत्र ज्ञान लीला—भैया ! सब कुछ लीला ज्ञान की है, सर्वत्र निहार लो, जो आनन्द में रत है, योगी है उनके भी ज्ञान की लीला चल रही है। जो दुःखी पुरुष है, जो दुःख की कल्पना बनाते हैं तो कल्पना भी तो ज्ञान से ही सम्बन्ध रखने वाली चीज हुई ना, कुछ तो ज्ञान में आया, किसी प्रकार की जानकारी तो बनायी उसका क्लेश है। वहाँ भी ज्ञान की एक लीला हुई। जो पुरुष आनन्द में रत है उसने भी अपना विशुद्ध ज्ञान बनाया, उस विशुद्ध ज्ञान का उसे आनन्द है, वहाँ तो ज्ञान की विशुद्ध लीला है ही । यो योगी अपने तत्त्वचिन्तन का अभ्यास बनाता है।

चित्त का विक्षेप महती विपदा—चित्त का विक्षिप्त हो जाना यह महती विपत्ति है। किसी धनी पुरुष के कोई पागल बिगड़े दिमाग का, कम दिमाग का या जिसके चित्त में विक्षेप होता रहे ऐसे दिमाग का बालक हो तो लोग इसके रक्षक माता पिताजन रिश्तेदार वगैरह हजारों लाखों का खर्च करके भी चाहते हैं कि उसके चित्त का विक्षेप बदल दे तो ऐसा उपाय करते हैं। पर हैरान हो जाते हैं, दुःखी ही रहते हैं। कदाचित् ठीक हो जाय तो उसके ही होनहार से वह ठीक होता है। दूसरे लोग उसमें कुछ अपना करतब नही अदा कर सकते हैं। चित्त का विक्षिप्त हो जाना यह जब तक बना रहेगा तब तक रागद्वेष का क्षोभ रहेगा। इस आकुलता के कारण आत्मस्वरूप का ध्यान नही बन सकता। किसी मनुष्य के द्वारा कुछ अपने को कष्ट पहुंचे, कष्ट तो नही पहुंचा, पर किसी मनुष्य का बोल सुनकर उसकी चेष्टा निरखकर कुछ ऐसी कल्पना बनायी कि दुःखी हो गए, तो दुःखी हो जाने पर चित्त में ऐसा हठ होता है कि हम भी इसका कुछ बदला चुकावेंगे, लेकिन ऐसे परिणाम का होना यह इसके लिए बहुत बड़ी विपत्ति है।

अन्तः साहस—दुनिया के जीव जो कुछ करते हो, करे, उनका उसी प्रकार का अशुभ कर्म का उदय है कि थोड़ी बुद्धि है, थोड़ी योग्यता है, उसके अनुकूल उन्होने अपनी प्रवृत्ति की, उसको देखकर यदि हम भी चलित हो जायें अर्थात् क्षमाभाव से, सत्य श्रद्धा से, आत्मकल्याण की दृष्टि से हम भी चिग जाये तो हमने कौनसा अपूर्व काम किया? इससे यह बड़ी साधना है, बड़ा ज्ञानबल है कि इतनी हिम्मत भीतर में रहे कि लोग जो

चेष्टा करे सो करते जायें पर हम तो अपने आपके सत्य विचार सत्य कर्तव्य में ही रत रहेंगे। हाँ कोई आजीविका पर धक्का लगे, अथवा आत्महित में कोई बाधा आए और उस बाधा को दूर करने के लिए कुछ सामना करना पडे, उत्तर देना पड़े तो वह बात अलग है, पर जहाँ न हमारी आजीविका पर ही धक्का लग रहा हो और न हमारी धर्मसाधना में कोई आ रही हो, फिर भी किसी प्रतिकूल चलने वाले पर रोष करना अथवा उससे बदला लेने का भाव करना, यह तो हित की बात नही है।

क्षमा से अन्तःस्वच्छता—भैया ! खुद को तो बहुत स्वच्छ रहना चाहिए क्योंकि बदला देने का परिणाम यदि रहा तो उससे चित्त में शल्य रहा, पापों का बंध बराबर चलता रहा जब तक कि बदला लेने का संस्कार मन में रहा आया हो। लाभ क्या उठा पाया, हानि ही अपनी की, कर्मबंध किया, समय दुरूपयोग में गुजारा और फायदा कुछ भी न उठाया। शान्त रहते तो बुद्धि स्वच्छ रहती, पुण्य बंध होता, धर्म में भी गति होती। तब गृहस्थ को कम से कम इतना तो अपना मनोबल बढ़ाना चाहिए कि जिस घटना में आजीविका आदि पर धक्का न लग रहा हो, आत्महित में बाधा न हो रही हो तो ऐसी घटनाओं में न कुछ क्षोभ लाना है और न कुछ प्रतिक्रिया करने का आशय बनाना है। योगी साधु पुरुष तो किसी भी परिस्थिति में चाहे कोई प्राण भी ले रहा हो तब भी उस घातक पुरुष पर रोष नही करते हैं उनके और उत्कृष्ट क्षमा होती है। चित्त में रागद्वेष का क्षोभ न मच सके ऐसा अपना ज्ञानबल बढ़ाना, यही आत्मा के हित की बात है।

कल्पना की व्यर्थ विपदा—भैया ! मोटी बात सोचो, इस आत्मा का साथी कौन है? इस आत्मा के साथ जायेगा कौन? मरते हुए लोगों को देखा है, एक धागा भी साथ नही जाता है। खूब बढ़िया ऐसी बंडी पहिना दो जिसे उतार भी न सकें या कैसे ही कपड़ों में गूँथकर रख दो, पर जीव जो मर रहा है उसके साथ कुछ भी जा सकता है क्या? मरने वाले मनुष्य की छाती पर नोटों की गठरी रख दो तो भी वह उसमें से कुछ ग्रहण कर सकता है क्या? कितना दयापूर्ण वातावरण है वह। मोही पुरुष कितनी विपत्ति में पड़ा हुआ है, उसे सत्य मार्ग ही नही दीखता। एक राग के अंधकार में बहा जा रहा है और रागी पुरुष ही सामने मिलते हैं, सो वे पुरुष इसको कुछ बुरा भी नही कहते। दूसरें की रागभरी चेष्टा को देखकर दूसरे रागी लोग उसकी सराहना ही करते हैं। तब कैसे इस राग की विपदा से दूर हो?

अन्तः आश्रय का साहस—धर्म का पथ बड़ा कटीला पथ है। जब तक कोई अपने में इतना साहस नही करता कि लो मैं तो दुनिया के लिए मरा ही हुआ हूं, अर्थात् मुझे दुनिया को कुछ नही दिखाना है। दस साल आगे मरने को समझलें कि अभी हम दुनिया के लिए मर गए। जो जीवित हूं, वह केवल आत्मकल्याण के लिए शान्ति और संतोष से रहकर इन कर्मों को काटने के लिए जीवित हूं, ऐसा साहस जब तक नही आता तब तक तो सही मायने में यह धर्म का पात्र नही होता। अब अपने को टटोल लो कि हमें किस प्रकार का साहस रखना है, जिन जीवों में मोह पड़ा हुआ है, पुत्र हो, स्त्री हो, कोई हो उनके प्रति उनको विषय बनाकर जो

उपयोग विकल्पों में गुथे रहते हैं भला बतलाओ तो सही कि इन विकल्प जालों से कौन सा आनन्द पाया, कौन सा प्रकाश पाया?

व्यामोह विपत्—व्यामोही प्राणियो क कितना अंधकार बना हुआ है, अन्तर में श्रद्धा यह बैठी है कि यह तो मेरा है, बाकी दुनिया गैर है। भाईचारे के नाते से व्यवस्था करना अन्य बात है। व्यवस्था करना पड़ती है, ठीक है, किन्तु अंतरंग में यह श्रद्धा जम जाय कि मेरे तो ये ही है तीन साड़े तीन लोग, और बाकी सब गैर है, ऐसी बुद्धि में कितना पाप समाया हुआ है, उसे कौन भोगेगा? प्रकट भी दिखता है कि किसी का कुछ कोई दूसरा नही है। देखते भी जाते हैं, घटनाएँ भी घट जाती है, तिस पर भी वासना वही रहती है। एक अहाने में कहते हैं कि कुत्ता की पूँछ को किसी पुँगेरी में अर्थात् पोले बांस में जो कि सीधा होता है उसमें पूँछ को रख दो तो पूँछ सीधी तो रहेगी किन्तु जब निकलेगी तो तुरन्त टेढ़ी हो जायगी, ऐसे ही कितनी मोह की तीव्र वासना भरी है अज्ञानी जीवों की। किसी गोष्ठी में या पंचकल्याण विधानों के दृश्यों में, या विद्वानों के भाषणों में या मरघटों में, किसी को जलाने जा रहे हैं अथवा समुदायो में ये भाव कर लेते हैं, चर्चा कर लेते हैं, ज्ञान की और वैराग्य की, पर थोड़ी ही देर बाद जैसे के तैसे ही रह जाते हैं। बड़ी विपदा है यह मोह की।

निर्मोहता की अमीरी—भैया ! मोह जिसका छूटे वही पुरुष सच्चा अमीर है। कौन पूछने वाला है, किसके लिए तृष्णा बढ़ाई जा रही है? कोई जीवन में अथवा मरण में साथी हो सकता हो तो निहारो जब तक चित्त में विक्षेप है तब तक इस जीव को साता हो ही नही सकती। इसलिए सबसे पहिले योगी को अपना चित्त शान्त रखना चाहिए। एक ज्ञान बढ़ाने का चस्का लगा लीजिए फिर दिन बड़े अच्छे कटेंगे। इतना ज्ञान सीखा अब और आगे समझना है।

प्राप्त बल का आत्महित में सदुपयोग—जब तक आँखे काम दे रही है, जब तक इन आँखों से देखना बन रहा है तब तक स्वाध्याय करके, ज्ञान सीखकर क्यों न सदुपयोग कर लिया जाय? जब कदाचित् मान लो आँखों से दिखना बंद हो जाय तब क्या किया जाएगा? ज्ञानार्जन का उपाय फिर ज्यादा तो न किया जा सकेगा। भले ही बहुत कुछ सीखा हो तो ध्यान करके ज्ञान का फल पा सके। लेकिन जब तक ये इन्द्रियां सजग है, समर्थ है तब तक इनका सदुपयोग कर ले। कानों से जब तक सुनाई दे रहा है तो तत्त्व की बात सुनें ना, ज्ञान की बात वैराग्य की बात सुनें ना, महापुरुषों के चारित्र की बात सुने, जिनके सुनने से कुछ लाभ होगा। जब तक बोलते बन रहा है जीभ ठीक चल रही है तब तक प्रभुभक्ति गुणगान स्तवन कर लें ना। जब बल थक जायगा, कुछ बोल न सकेंगे, जीभ लड़खड़ा जायगी फिर क्या कर सकेंगे? जब तक शरीर में बल है, हाथ पैर चलते हैं तब तक गुरुओं की सेवा कर ले ना। जब स्वयं ही थक जायेंगे, उठ ही न सकेंगे फिर क्या किया जा सकेगा? जब तक यह बल बना हुआ है इस बल का उपयोग धर्म साधना के लिए करना चाहिए।

धर्म साधना—धर्म साधना मोह राग द्वेष उत्पन्न न हो, इसमें ही है। इसकी सिद्धि के लिए योगी पुरुष एकांत स्थान में रहने का अभ्यास करते हैं। एकांत निवास आत्मस्वरूप की बड़ी साधना है। एकांत निवास में जब रागद्वेष के साधन ही सामने नही है तो प्रकृति से इसके चित्त पर स्फूर्ति जाग्रत होती है। जब तक हेय और उपादेय पदार्थ का परिज्ञान न होगा तब तक कैसे आत्मस्वरूप का अभ्यास बन सकता है? सबसे बड़ी दुर्लभ वस्तु है तो ज्ञान है। धन, कन, कंचन, हाथी, घोड़ा दुकान वैभव ये कोई काम न आयेंगे, पर अपना आत्मज्ञान एक बार भी प्रकट हो जाए तो यह अचल सुख को उत्पन्न कर देगा। इसलिए करोड़ों बातो मे भी प्रधान बात यह यही है कि अनेक उपाय करके एक ज्ञानार्जन का साधन बना ले।

विनाशीक वस्तु से अविनाशी तत्त्व के लाभ का विवेक—यदि नष्ट हो जाने वाली चीज का व्यय करके अविनाशी चीज प्राप्त होती है तो इसमें विवेक ही तो रहा। यह वैभव धन खर्च हो जाता है त्याग हो जाता है और उस त्याग और व्यय करने से कोई हमें कुछ ज्ञान की सिद्धि होती है, दृष्टि जगती है तो ऐसी उदारता का आना लाभ ही तो है, अन्यथा तृष्णा में कृपणता में होता क्या है कि वियोग तो सबका होगा ही, इसमें ज्ञान से सूना-सूना रहने के कारण अंधेरी छायी रहेगी, दुःखी होगे। कृपण पुरुष के कितनी विपत्ति है, इसका ज्ञान कब होता है जब कोई लुटेरे लूट ले, धन नष्ट हो जाय, तो लोगो को विदित होता है कि इसके पास इतना कुछ था। बताओ कौन सा लाभ लूट लिया राग की आसक्ति में और मोह ममता में?

तत्त्वज्ञान का आदर—भैया ! जब तक एक ज्ञान का प्रकाश नही हो सकता तब तक आत्मा में शान्ति आ ही नही सकती। इस कारण यह कर्तव्य है कि इस स्व और पर का यथार्थ विवेक बनाएँ। मेरा आत्मा समस्त परपदार्थों से न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसा भान जिन संतो के रहा करता है ये ज्ञानी योगी पुरुष है। सब दशाओं में ज्ञान ही तो मदद देता है। धन कमा रहे हों तो वहाँ भी क्या ज्ञान बना रहकर, भोंदूपना करके व्यापार का काम बन जायगा? वहाँ भी ज्ञानकला का ही प्रताप चल रहा है। किसी भी प्रकार की जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह सब ज्ञान की कला के प्रताप से है। इस तत्त्वज्ञान का आदर करो, यही सहाय है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी जगत में सहाय नही है। जो जीवन में ज्ञानी होता है वह मरते समय भी अपनी ज्ञान वासना के कारण प्रसन्न रहता है।

जगत् का खेल—अहो कैसा है यह जगत का खेल, पहिले बनाया जाता और फिर मिटाना पड़ता। जैसे बच्चे लोग मिट्टी का भदूना बनाते हे बाद में बनाकर बिगाड़ देते हैं, अपना समय उस खेल में व्यर्थ गंवाते हैं ऐसे ही रागी मोही जन किसी काम को बनाते हैं तो वह भी क्या सदा तक बना रह पाता है? वह भी बिखर जाता है। तो क्या बुद्धिमानी हुई, बनाया और बिगाड़ा। बनाने में तो इतना समय लगा और बिगाड़ने में कुछ भी समय न लगा। जिन्दगी भर तो इतना श्रम किया और अंत में फल कुछ न मिला तो ऐसे व्यवसाय से, परिश्रम से कौन सा अपने आपके आत्मा का लाभ उठाया?

व्यवहार से लाभ—भैया ! सब हिम्मत की बात है। जो पुरुष इतना तक समझने के लिए तैयार रह सकता है कि मैं तो इस दुनिया के लिए मरा हुआ ही हूं, मैं इन मायामयी मोही प्राणियों से, इन मोही मायामयी समागमों से मैं कुछ नही कहलवाना चाहता हूँ, मैं अपने आप में ही प्रसन्न हूं, इतना साहस यदि किया जा सकता है तब धर्म पालन की बात बोलना चाहिए अन्यथा सब एक पार्ट अदा किया जा रहा है। जैसे दूकान किया, ऐसे ही पूजन भी किया, यह सब तफरी है एक तरह की। जिसको ज्ञान की दृष्टि नही है, जिसने अपना लक्ष्य विशुद्ध नही बना पाया है उनका दिल बहलावा है। खोटे-खोटे कामों में ही बहुत समय तक रहने पर फिर दिल नही लगता है, ऊब जाता है, अब उस दिल को कहाँ लगाये? तो कुछ यहाँ व्यवहार धर्म की बातें भी बना ली।

व्यवहार धर्म की बाह्य सहायकता—व्यवहार धर्म बुरा नही है, हमारी भलाई में सहायक है, पर जैसे हमारी भलाई हो सकती है उस प्रकार की दृष्टि बनाकर व्यवहार धर्म को करें तब ही तो भलाई हो सकती है जो पुरुष अपने को सबसे न्यारा अकिञ्चन केवल ज्ञानानन्द स्वरूप निहारेगा उसको ऋद्धि सिद्धि होगी और जो बहिर्मुखदृष्टि करके अपना उपयोग बिगाड़ेगा, भले ही पूर्वजन्म के पुण्य के प्रताप से कुछ जड़ विभूति मिल जाय किन्तु उसने किया कुछ नही है, आगे वह दुर्गति का ही पात्र होगा। इससे रागद्वेष न हो, ज्ञानप्रकाश बने ऐसा उद्यम करना इसमें ही हित की बात होगी।

श्लोक 37

यथा यथा समायति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।

तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।३७।।

ज्ञान से विषयों में अरुचि—अपने उपयोग में जैसे-जैसे यह आत्मतत्त्व विकसित होता जाता है वैसे ही वैसे ये सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते हैं। जब सहज शुद्ध अंतस्तत्व के उपयोग से एक आनन्द झरता है तो उस आनन्द से तृप्त हो चुकने वाले प्राणियो को सुलभ भी विषय, सामने मौजूद भी विषय रूचिकर नही होता है। जब तक अपने स्वभाव का बोध न हो तब तक विषयों में प्रीति जगती है। जब कोई पदार्थ है तो उस पदार्थ का कुछ स्वरूप हो सकता है, उसे कहते हैं सहजस्वरूप। इस आत्मा का आत्मा की स्वरूप सत्ता के कारण क्या स्वरूप हो सकता है उसका नाम है सहज स्वरूप। यह उत्तम तत्त्व जिसके ज्ञान में समाया है उसे सुलभ भी विषय रूचिकर नही होते।

नैमित्तिक भाव में स्वरूपता का अभाव—जो किसी परद्रव्य के सम्बन्ध से इस आत्मा की बात बनती है वह आत्मा में होकर भी आत्मा का स्वरूप नही है। जैसे दृष्टान्त में देखिये कि अग्नि के सम्बन्ध से पानी में गर्मी आने पर भी पानी का स्वरूप गर्मी नही है। यद्यपि उस पानी को कोई पी ले तो मुँह जल जायगा। गर्मी अवश्य

है और वही गर्मी पानी में तन्मय है, इतने पर भी पानी का स्वरूप गर्म नही कहा जा सकता है। इस ही प्रकार कर्मों के उदयवश अपने उपयोग की भ्रमणा चल रही है, रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं, ये रागादिक आत्मा के ही परिणमन है, इतने पर भी ये रागादिक आत्मा के स्वरूप नही बन जाते हैं इतनी बात की खबर जिसे है उसने अपना मनुष्य जन्म सार्थक कर लिया है। शेष जो कुछ भी समागम मिला है वे सर्व समागम इस आत्मा के भले के लिए नही है, ये छूटेंगे और जब तक साथ है तब तक भी क्या यह जीव चैन से रह सकता है?

स्व की विश्वास्यता—भैया ! इन समागमों में रंच भी विश्वास न करो और यह विश्वास करो कि मेरे ही स्वरूप के कारण मेरा जो स्वभाव है बस वही मेरा शरण है, वही मेरा रक्षक है। उसमें स्वयं आनन्द भरा हुआ है। ऐसे इस सहज ज्ञानानन्दस्वरूप की जिन्हें सुध रहती है और इस स्वरूप के अनुभव से जो शुद्ध आनन्द का अनुभव जगा है उसके कारण इस ज्ञानी को ये सुलभ विषय भी रुचिकर नही होते हैं।

परिस्थितिवश विषय में अरुचि से एक अनुमान—अब जरा इस तरह भी अनुमान कर लो। जब किसी कामी पुरुष को कामविषयक वासना का विकल्प चलता है तो उसे जात कुजात अथवा किसी ही वर्ण का रूप हो, सब सुन्दर और रमणीक जंचता है, और यही उपयोग जब ज्ञान वासना को लिए हुए हो और यहाँ अतः प्रसन्नता धार्मिक जग रही हो तो सुन्दर से भी सुन्दर रूप हाड़ माँस का पिञ्जर है, यह इस प्रकार दिखा करता है। और भी दृष्टान्त देखो—जब भोजन करने मे आसक्ति का परिणाम हो रहा हो उस समय भोजन कितना स्वादिष्ट और सरस सुखदायी मालूम होता है ? जब उपयोग बदला हो, किसी बाह्य विकल्प में फंसा हो या कोई बड़ी हानि का प्रसंग आया हो जिससे चिन्तामग्न हो तो उस काल में वह भोजन ऐसा सरस स्वादिष्ट नही प्रतीत होता है। क्योंकि उपयोग दूसरी जगह है। ज्ञानी संत का उपयोग इस सहज ज्ञानस्वरूप के अनुभव से निर्मल हुआ है, उसे यो सुलभ विषय भी रूचिकर नही होते हैं। यह बात युक्त ही है कि अधिक आनन्द मिल जाय तो हीन आनन्द की कोई चाह नही करता है।

मोही की अस्थिरता—इस मोही जीव को विषयसाधनों में रमने के कारण शुद्ध आनंद नही मिला है इसलिए किसी भी विषय को भोगकर तृप्त नही हो पाते। तृप्त न होने के कारण किसी अन्य विषय में अपना उपयोग फिर भटकने लगता है। पंचेन्द्रिय के विषय और एक मन का विषय। इन ६ विषयों में से किसी भी एक विषय में ही रत हो जाय, यह भी नही हो पाता है।

मोहोन्मत्त का विषयपरिवर्तन—किसी को यदि स्पर्शन का विषय प्रिय है, काम मैथुन का विषय प्रिय है तो फिर रहो न घंटों उसी प्रसंग में, पर कोई रह नही पाता है। अतृप्ति हो जाती है, तब तृप्ति के लिये अन्य विषय खोजने लगता है। किसी को भोजन ही स्वादिष्ट लगा हो तो वह करता ही रहे भोजन, लेकिन नही कर पाता है फिर दूसरे विषय की याद हो जाती है। किसी को कोई मन का विषय रुच रहा है यश, पोजीशन, बड़प्पन

रुच रहा है तो इस विषय के बड़प्पन में ही रहे। फिर बदल-बदलकर नये-नये विषयों में यश बढ़ाने का क्यों यह जीव यत्न करता है? मोही जीव को कहीं भी तृप्ति का काम ही नही है। अज्ञान हो और वहाँ संतोष आ जाय यह कभी हो नही सकता। संतोष के मार्ग से ही संतोष मिलेगा। जिन अज्ञानी पुरूषों के उपयोग में भेदविज्ञान के प्रताप से यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमतत्त्व है उन्हें ये सुलभ विषय भी रुचिकर नही होते हैं।

विषय साधनों की पराधीनता, विनश्वरता व दुःखमयता—ये विषयभोग प्रथम तो पराधीन है। जिस विषय की चाह की जाती है उस विषय में स्वाधीनता नही है। किन्तु यह आत्मा का आनन्दमयी स्वरूप जिसको हमें ही देखना है, हमारा ही स्वरूप है, जिसके देखने वाले भी हम है, और जिसे देखना है वह भी शाश्वत हममें विराजमान है फिर वहाँ किस बात की आधीनता है? यह आत्महित का कार्य स्वाधीन है। जो स्वाधीन कार्य है उसके झुकाव में विकृति नही रहती है। और जो पराधीन कार्य है उसकी निरन्तर वाञ्छा बनी रहती है। पराधीन ही रहें इतना ही ऐब नही किन्तु ये नष्ट हो जाते हैं। ऐसा भी नही है कि ये विषय सदैव बने रहे। ये मायामय है, कुछ ही समय बाद ये नष्ट हो जाते हैं। पराधीन है और नष्ट हा जाते हैं। वे रहे आये पराधीन व विनाशीक तो भी मोही यह मान लेगा कि हम तो जब तक है तब तक तो मौज मिल जायगी। सो इतना भी नही है। जितने काल विषयों का समागम है उतने काल भी बीच-बीच में दुःख के ही कारण होते रहते हैं।

वक्तव्य एक प्रसंग की भूमिका—पुराण में एक कथानक पढ़ा होगा, आदिनाथ भगवान के पूर्व भवों में जब वज्रजंघ का भव था तो उनकी स्त्री श्रीमती हुई, और श्रीमती का विवाह जब न हुआ था तब उस श्रीमती कन्या ने देखा कि कबूतर और कबूतरी परस्पर में रम रहे हैं, इतना देखकर उसे कुछ जाति स्मरण हुआ। श्रीमति पहिले भव में देवी थी और वज्रजंघ ललितांग देव था। उस जातिस्मरण में उसे पिछले मौजों की सुध आयी और ललितांग देव का स्मरण हुआ तो उसने यह प्रतिज्ञा की कि वही जीव यदि मनुष्य भव में हो और सुयोग हो तो विवाह करूँगी अन्यथा न करूँगी। अब पता कैसे लगे कि कौन है वह मनुष्य जो ललितांग देव था। श्रीमती को जातिस्मरण हुआ और उसे देव के समय की एक घटना भी चित्त में बनायी, सो चित्र पट में अनेक घटनाएँ लिखी व वह विशिष्ट घटना भी लिखी और कितनी ही परीक्षा के लिए झूठी घटनाएँ भी लिखी। तो पहिले समय में ऐसी प्रथा थी। उस चित्रावली को मन्दिर के द्वार पर रख दिया गया और एक धाय के सुपुर्द कर दिया गया। उस चित्रावली में कुछ पहेली बनी हुई थी, ताकि जो शंकाओं को समाधान कर दे, उसे समझ ले कि यह ही वास्तव में पूर्वभव का पति था। बहुत से मनुष्य आये, झूठे कपटी भी आए और कुछ से कुछ बताकर अपना रौब जमाने लगे, पर किसी की दाल न गली।

देवगति में कामलीला का एक प्रसंग—वज्रजंघ स्वयं एक बार वहाँ से निकला और चित्रावली को देखा तो एक चित्र वहाँ ऐसा था कि ललितांग देव के सिर में देवी ने जो लात मारी थी। उसका दाग बना था। उसको देखकर उसे भी स्मरण हो आया और वह प्रेम एवं वियोग की पीड़ा से बेहोश हो गया। होश होने पर धाय ने

पूछा तो बताया कि यह चित्त हमारे पूर्वभव के देव के समय की घटना का है। यह देव जब देवी के साथ यथेष्ट बिहार करके रम रहा था तो किसी समय देवी अप्रसन्न हो गयी और उसने अपने पति ललितांग देव के सिर में लात लगायी थी। जो मनुष्य भव में अप्रिय घटनायें होती है ऐसी अप्रिय घटनायें देवगति में भी हुआ करती है। जब स्वयं चित्त विषयवासना से व्याकुल है तो वहाँ बाह्य पदार्थ भी रमणीक लगते हैं और वहाँ अनेक उपद्रव सहने पड़ते हैं जब चित्त ज्ञान में है तो फिर ये बाह्य पदार्थ उसे रम्य नही मालूम होते हैं।

ज्ञानी का चिन्तन और यत्न—विचार कर रहे हैं ज्ञानी पुरुष कि ये भोग पराधीन है, मिटते हैं और जब तक भी विषय भोग बन रहे हैं तब तक भी दुःख बराबर चलता रहता है। और फिर इसमें नफा क्या मिलता है, केवल पापों का बंध होता है। ऐसे सुख में ज्ञानियो के आदर बुद्धि नही होती है। तत्त्वज्ञान में ज्यों-ज्यों समाया जाता है त्यों-त्यों ये सर्व विषय सुलभ भी हो तो भी रुचिकर नही मालूम होते जैसे सूखी जमीन मछलियों के प्राणों का घात करने वाली है और उन मछलियों को आग मिल जाये तो फिर उन मछलियों के भवितव्य की बात ही क्या कही जाय? तुरन्त मछलियाँ अग्नि में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। ऐसे ही जिनका चित्त कामवासना से भरा है वे स्वयं व्याकुल है और फिर काम का कोई आश्रय मिले, विषय भोग के साधन मिलें और अन्य साधन कर्म जुट जायें तो उनके मन, वचन, काय सब कुत्सित हो जाते हैं वे महीने-महीने तक के लिए भी आहार आदि का त्याग कर देते हैं। जो पुरुष अपने आत्मकल्याण के लिए जान-जानकर इन विषयों को परित्याग करते हैं वे विषय सुखों को कैसे उपादेय मान सकते हैं ? अहो ! जीवन में एक बार भी यदि समस्त प्रकार के विकल्प त्यागकर, परम विश्राम में रहकर अपने सहज आनन्द निधि का स्वाद आ जाय तो इस जीव के सर्वसंकट मिट जायेंगे।

आत्महित के लिए जीवन का निर्णय—यह जगत मायारूप एक गोरखधंधा है, भटकाने और भुलाने वाला है। यहाँ यह मोही स्वयं भी कायर है और वातावरण भी उसे दुष्ट मिल जाय, ऐसा खोटा मिल जाय कि यह अपने इन्द्रिय को काबू में ही न रख सके ऐसे प्राणियों को तो बड़ा अनिष्ट ही है। अनादि काल से भूल भटककर इस मनुष्यभव में आये, अब सुन्दर अवसर मिला, प्रतिभा मिली, क्षयोपशम अच्छा है। कर्मो का उदय भी है, आजीविका के साधन भी सबके ठीक है, ऐसे अवसर में अब तृष्णा का परित्याग करके आत्महित के लिए अपना उद्योग करे। जरा विचारो तो, लखपति हो गए तो करोड़पति होने की चाह, करोड़पति हो गए तो अरबपति होने की चाह, यो चाह का कभी अन्त नही आता है। चाह का अन्त ज्ञान में ही आता है। वस्तु के समागम से चाह का अंत नही होता है। जीवन चलाने के लिए तो दो रोटियों का साधन चाहिए और ठंड गर्मी से बचने के लिए दो कपड़े का साधन चाहिए।

वस्तुस्वरूप की समझ में चिन्ता का अनवकाश—भैया ! कुछ यह चिन्ता हो सकती है गृहस्थी है इसलिए उसकी संभाल के लिए कुछ तो विशेष चाहिए। वे सब तो अपना-अपना भाग्य लेकर आये हैं, सो सब उदयानुकूल

थोड़े से यत्न से काम हो जाता है और फिर ज्ञान है तो इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि कैसी भी स्थिति हो, हम उसमें भी अपना हिसाब बना सकते हैं पर जीवन हमारा केवल धर्म के लिए ही है। इतना साहस हो तो विनाशीक इस जीवन से अविनाशी पद का काम पाया जा सकता है। जो मिट जाने वाली वस्तु है उसका ऐसा उपयोग बन जाय कि न मिट जाने वाली चीज मिले तो इससे बढकर और हिकमत क्या हो सकती है? ज्ञानी पुरुष पंचेन्द्रिय के विषय साधनों का सर्वथा हेय समझते हैं। ये ज्ञानी योगीश्वर आत्मस्वरूप के सुगम परिज्ञानी है। जरा सी दृष्टि फेंकी कि वह कारणसमयसार उनकी दृष्टि में समक्ष है। जो ऐसे ज्ञान के अनुभव का निरन्तर स्वाद ले रहे हैं उनको इन विषयों से क्या प्रयोजन है?

तत्त्वज्ञ की निष्कामता—जैसे रोग से प्रेरित रोगी पुरुष रोग का इलाज करता हुआ भी रोग को नही चाहता और इलाज को भी नही चाहता। कोई बीमार पुरुष दवा पीता है तो दवा पीते रहने के लिए नही दवा पीता है, किन्तु दवा न पीना पड़े, इसके लिए दवा पीता है। इस रोगी के दिल से पूछो, रोगी तो प्रायः सभी हुए होंगे। तो सभी अपने-अपने दिल से पूछो, क्या दवा पीते रहने के लिए दवा पी जाती है? दवा तो दवा न पीना पड़े इसके ही लिए पी जाती है। ऐसे ही यहाँ निरखिये ज्ञानियो की महिमा का कौन वर्णन करे, प्रवृत्ति एकसी है ज्ञानी की और अज्ञानी की। इस कारण कोई नही बता सकता है कि इसके चित्त में वास्तविक उद्देश्य क्या है? लोग तो प्रवृत्ति देखकर यह जानेंगे कि यह तो रोगी है, विषयों का रुचिया है, किन्तु घर में रह रहा ज्ञानी, विषय प्रसंग में आ रहा ज्ञानी, उसकी इन व्यवस्थाओं को ज्ञानी पुरुष ही जानता है। अज्ञानी नही जान सकता है। चारित्र मोह का एक ऐसा प्रबल उदय है, उससे इसे कषायों की पीड़ा हुई है अब वह कर्मजन्य कार्यों को कर रहा है किन्तु उन प्रवृत्तियों से यह पुरुष उदास ही है। जिसे तत्त्व ही रुच रहा है। और तत्त्वज्ञान से सहज आनन्द मिल गया है उसके विषयों में प्रीति कैसे हो सकती है? भैया ! इसी सहज शुद्ध आनन्द के पाने का अपना यत्न हो और हम अधिक से अधिक ज्ञान के अभ्यास में समय दे, यह एक अपना निर्णय बनाएँ।

श्लोक 38

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।

तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।३८।।

विषयों की अरुचिकर में ज्ञानप्रकाश की वृद्धि—ज्यों-ज्यों सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते हैं त्यों-त्यों यह आत्मा का शुद्ध तत्त्व ज्ञान में विकसित होता रहता है । जब तक इन्द्रिय के भोगों में रुचिकर रहती है तब तक इस जीव के ज्ञान नही समा सकता है, क्योंकि ये भोग विषय ज्ञान के विपरीत है। जैसे कोई उल्टी दिशा में चले तो इष्ट स्थान में वह नही पहुंच सकता है। मान लो जाना तो है इटावा और रास्ता चला जाय करहल की ओर तो इटावा कैसे मिल सकता है? ऐसे ही विषयभोगों की गैल में तो चलें और चाहे कि मुझे प्रभुदर्शन,

आत्मानुभव, उत्तम तत्त्व का प्रकाश हो जाय तो कैसे हो सकता है? जब तक भोगों की रुचि न हटे तब तक ज्ञानप्रकाश न होगा। सभी भोग झूठे है, असार है। भोगों से आत्मा को संतोष होता हो तो बताओ। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय काम बाधा विषयक प्रसंग, इनसे आत्मा को क्या लाभ मिलता है?

भोगों से अतृप्ति—कोई गृहस्थ जिसके ज्ञानप्रकाश नही हुआ है, वैराग्य नही हुआ है, क्या वह यह हठ कर सकता है कि मैं आज विषय भोगूँ इसके बाद फिर मैं कल्पना भी न रक्खूँगा। ज्यों-ज्यों यह भोगता है त्यों-त्यों इसकी कल्पना बढ़ती है। क्या कोई ऐसा सोच सकता है कि आज मैं बहुत मीठी चीज खालूँ फिर कलसे मैं इस चीज की तरफ ध्यान ही न दूँगा, ऐसा कोई कर सकता है क्या? कोई भोगों को भोगकर चाहे कि मैं तृप्त होऊँ तो यह नही हो सकता है। भोगों के त्याग से ही तृप्ति हो सकती है, भोगों के भोगने से कभी तृप्ति नही हो सकती है। जैसे अग्नि में जितना ईधन डालते जावो उतनी ही अग्नि बढ़ती जायगी, उनसे कभी ईधन से तृप्त न होगी, इसी तरह जितना विषय भोग भोगो उतना ही भोगों से अतृप्ति बढ़ती जायगी, उनसे कभी संतोष न होगा। जैसे समुद्र में जितनी नदियाँ मिलती जायेगी उतना ही समुद्र का रूप बढता जायगा। समुद्र कभी यह न कहेगा कि मैं सन्तुष्ट हो गया हूं, मुझे अब नदियाँ न चाहिएँ, अथवा ऐसे ही चाहे ईधन से अग्नि तृप्त हो जाय, सूर्य पूरब के बजाय पश्चिम में ऊगे, कमल चाहे पत्थर पर पैदा हो जाये, पर भोग भोगने से कभी तृप्ति नही हो सकती। जिसे भी संतोष मिलेगा त्याग से ही मिलेगा।

कल्याण में तत्त्वज्ञान का विशिष्ट सहयोग—ज्यों-ज्यों सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते हैं त्यों-त्यों ज्ञानप्रकाश बढ़ता है। जो परिश्रम करके विषय साधन जुटाए जाएँ उसकी भी बात नही कर रहे, सुलभ अपने आप सामने हाजिर हो जाएँ भोग के साधन और फिर भी उनमें रुचिकर न जगे तो वहाँ ज्ञानप्रकाश बना है। जिसने अपने आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप का सम्वेदन किया है, जो अपने ज्ञानामृत रसका रुचिया है वह बाह्य पदार्थों में उदासीन रहता है। इन समस्त समागम को भिन्न और विनाशीक जानता है। यह भी बड़ी साधना है। तुमसे गृहस्थी छोड़ते न बने, न छोड़ो, पर इतना ज्ञान तो बनाए रहा कि ये सब भिन्न है, नियम से नष्ट होंगे, इनका वियोग जरूर होगा, ऐसी बात हो तो मान लो और न हो तो मत मानो। यह निर्णय कर लो कि जितने भी जिसे समागम मिले हैं वे समागम उसके संग में जायेंगे क्या? कुछ भी तो न जायगा।

स्वपरभेदविज्ञान का बल—हम आपका कुछ भी यहाँ नही है, शरीर तक तो अपना है नही, फिर धन दौलत और घर मकान की तो कौन कहे? शरीर में यद्यपि यह जीव रह रहा है तो भी शरीर के स्वक्षेत्र में शरीर है, शरीरके परमाणुओं में शरीर है, वह आत्मा का स्वरूप नही बन जाता है और जीव के स्वरूप में जीव है वह शरीर नही बन जाता। तो जब शरीर में भी यह आत्मा नही है अर्थात् शरीररूप नही बन पाता यह तो अन्यरूप तो बनेगा ही क्या? ये सब पदार्थ समागम भिन्न है कि नही? यदि समझमें आ गया हो कि वास्तवमें मेरे आत्मा को छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप को तजकर जो कुछ भी यहाँ दिख रहा है और मिल रहा है ये भिन्न है, ऐसा ज्ञान

हो गया हो तो आप फिर धर्म कर भी सकते हैं और यदि ज्ञान ऐसा नही बना है तो पहिले यही ज्ञान बनावो, निर्णय कर लो, थोड़ासा भी विचार करने पर एकदम स्पष्ट हो जाता है कि ये अत्यन्त भिन्न है। तो बस मान लो ऐसा कि सारे समागम मुझसे अत्यन्त भिन्न है, मेरा उनमें कुछ नही है। क्या ये समागम तुम्हारे साथ अनन्तकाल तक रहेंगे या १००,५० वर्ष तक भी रहेंगे, ऐसी कुछ भी उम्मीद है क्या? कुछ भी तो उम्मीद नही है । तो ये सब समागम बिछुड़ेगे कि नही? मन से उत्तर दो। अगर बिछुड़ेंगे यह बात हृदय में जम गयी है तो इतना मन लो।

समागम की भिन्नता व विनश्वरता के परिज्ञान का प्रताप—कोई पुरुष यदि इन दो बातों को हृदय से मान लेता है कि जो भी समागम है—मकान, परिवार, सम्पदा ये सब भिन्न है और ये कभी न कभी बिछुड़ेंगे, इतनी बात यदि हृदय में घर कर गयी हो तो वह धर्मात्मा पुरुष है और मानता हो कि ये तो मेरे ही है, न्यारे कहाँ है, अथवा ये तो मेरे ही साथ रहेंगे कैसे बिछुड़ सकते हैं, ऐसी मिथ्या प्रतीति हो तो अभी धर्म करने की योग्यता ही नही है। यह सब पहिली बात है। जिसे धर्म करना हो उसको पहिले ये दो निर्णय बनाने चाहिएँ। कोई पुरुष ज्यादा शास्त्र नही जानता है, भाषाएँ नही सीखा है, अथवा उपदेश किए गए विषयों को नही समझ पाता है, न समझ पाये, लेकिन उसे यदि इन दो बातों का पक्का श्रद्धान है कि मेरा तो यह शरीर भी नही है। मेरा तो मात्र में एक ज्ञानप्रकाश मात्र आत्मा हूं और ये सब भिन्न चीजें है, दूसरी जगह पड़ी है, मेरे मे मिली हुई तक भी नही है और ये सब विनाशीक है, इतना भी भान हो तो भी शान्ति का मार्ग मिल जायगा।

संकटमोचक सहज अनुभव—एक बार भी तो यह हिम्मत बना लो कि इन भिन्न पदार्थों के सजाने से, अपने हृदय इन सब पदार्थों को रखने से अब तक आकुलता ही पायी है। मैं अब इन किन्ही भी पदार्थ को मनमें नही रखना चाहता हूं। अपने उपयोग में किसी भी बाह्य पदार्थ को न ले तो सहज आराम बन जायगा। उस विश्राम में जो शुद्ध ज्ञानप्रकाश का अनुभव होगा यही अनुभव संसार के संकटों से दूर कर देगा। ऐसा होने के लिए ये दो बातें निर्णय में होनी चाहिएँ (१) समस्त भोगों के साधन भिन्न है और (२) ये नियम से बिछुड़ेंगे, इतने ज्ञान पर भी वैराग्य होना सम्भव है और सुलभ विषय भी उसे रुचिकर न होंगे। यह बात केवल साधुवों की नही कही जा रही है, यह तो संज्ञी जीवों की बात कही जा रही है। जो भी संज्ञी जीव है मन सहित यावन्मात्र मनुष्य अथवा पशु पक्षी तक भी उनके यदि ये विषय रुचिकर नही हो रहे हैं, श्रद्धा में उनसे हित नही माना है तो उन सबके यह उत्तम तत्त्वज्ञान प्रकाश आनन्दस्वरूप अनुभव में आ जायगा, और जब यह अपना परमात्मा अपने अनुभव में आ जाय तो सब कर्म और संकट नष्ट हो जायेंगे। इतनी बड़ी कल्याण की पदवी पाने की मनमें इच्छा हो तो व्रत, नियम, संयम कुछ न कुछ अवश्य ही करना चाहिए। उनमें सुलभ विषयों की भी इच्छा न रहेगी जो तत्त्वज्ञान करेंगे।

भोगों में अतृप्ति, तृष्णा व बलक्षय का ऐब—इन भोगों के भोगने में यह बड़ा ऐब है कि ये भोग आगमी काल में तृष्णा को बढ़ाते हैं, संतोष नही पैदा करते। भोग भोगने के बाद भोगने लायक नही रहते, इस कारण भोगों का त्याग करना पड़ता है, मगर तृष्णावान् जीव त्याग कहाँ करना चाहते है? जैसे भोजन किया जाता है, कोई आसक्त होकर भी भोजन करे तो उसे भोजन छोड़ देना पड़ेगा, भोजन करता ही जाय ऐसा नही हो सकता। उसने जो भोजन छोड़ा तो क्या ज्ञान और वैराग्य के कारण छोड़ा ? अरे अब पेट में समाता ही नही है इसलिए छोड़ना पड़ा। ऐसी ही समस्त विषयों की बात है। किसी भी विषयों को यह मोही जीव त्यागता है तो क्या ज्ञान और वैराग्य से त्यागता है? भोग भोगने के बाद फिर भोग भोगने लायक नही रहता, यह इस कारण इसे त्यागना पड़ता है खूब इत्र फुलेल आदि सुगंधित चीजें सूँघते रहने के बाद वह कुछ समय को छोड़ देता है क्योंकि कहाँ तक सूँघता रहे। भोग भोगने में श्रम तो होता ही है। बिना राग, बिना प्रवृत्ति और बिना परिश्रम के कोई सा भी भोग नही भोगा जाता, उसको तो त्यागना ही पड़ता है।

विषयों ऊब—किसी सुन्दर रूप को निहारते रहो, सनीमा, थियेटर अथवा कोई सुरूप स्त्री, सुरूप पुरुष, किसी को भी निहारते रहो तो कहाँ तक निहारते रहोगे, आखिर पलक बंद ही करना पड़ेगा और अपना अलग रास्ता नापना ही पड़ेगा। तो उस मोही जीव ने जो देखने का विषय छोड़ा है वह क्या ज्ञान और वैराग्य के कारण छोड़ा है? अरे छोड़ना पडा है? छोड़ना नही चाहते हैं । ऐसे ही मानो रात के १० बजे से खूब संगीत गायन सुना, नाच देखा धीरे-धीरे चार बज गए। आखिर उसको छोड़कर तो जाना ही पड़ता है। ऐसा तो है नही कि कोई ५-७ दिन तक लगातार नाच गायन में बैठा रहे। नाच गायन खूब देखने सुनने के बाद अब उसमें शक्ति नही रही कि ऐसे ही देखता सुनता जाय, इस कारण उसे छोड़ना पड़ता है तो ये भोग अतृप्ति ही पैदा करते हैं। कोई मन से इन भोगों को छोड़ नही पाता है और जहाँ विषयों में ऐसी आकांक्षा बन रही है वहाँ यह ज्ञानप्रकाश अपने अनुभव में नही आ सकता है।

अन्तर्मिलन में प्रभुमिलन—लोग भगवान के दर्शन करने को हैरान होते हैं। प्रथम तो इस मोही जीवको भगवान की बात हो नही सुहाती, भगवान है भी कोई या नही, उसके स्वरूप का भान नही होता, और कोई भाव करता है तो भगवान के नाते से नही करता, किन्तु मेरे घरके बच्चे खुश रहे, मेरे धन खूब बढ़ता रहे इस स्वार्थ के नाते से भगवान की सुध लेता है क्योंकि सुन रक्खा है ना कि भगवान सबको सब कुछ देता है। भगवान की सुध लेना ही बडा कठिन है और कदाचित् किसी को सुध आए और भगवान से मिलने की अंतरंग में उमंग भी करे, लेकिन वह अपने स्वरूप से चिगकर बाहर में कही भगवान को ढूँढा करे तो क्या भगवान मिल जायगा? आँखे तानकर, आसमान में देखकर या किसी और दृष्टि देकर प्रभु से कोई मिलना चाहे तो नही मिल सकता है, प्रभु का दशर्न करना चाहे तो नही कर सकता है। हाँ अपने ही आत्मा में जो शाश्वत विराजमान स्वरूप है, चैतन्यभाव है उस चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि दे तो उसके दर्शन में प्रभुता का दर्शन हो जायगा, किन्तु इतनी कठिन बात उस

पुरुष मे कैसे आ सकती है जो व्यसनों का लोभी है, पापों को छोड़ना नही चाहता मोह में पगा है, ऐसे पुरुष को प्रभु का दर्शन नही हो पाता है।

ज्ञानप्रकाश में विषयों की अरुचि का विशिष्ट सहयोग—जैसे-जैसे सुलभ विषय भी, भोग साधन भी रुचिकर नही मालूम होते वैसे ही वैसे इस ज्ञान में यह उत्तम तत्त्व समाता जाता है। पहिले श्लोक में यह कहा था कि ज्यों-ज्यों ज्ञानस्वरूप ज्ञान में आता रहता है त्यों-त्यों सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते। वहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि इसका भी कुछ उपाय है कि ज्ञान में यह उत्तम अंतस्तत्त्व समाता जाय। उसके उत्तर में दूसरे श्लोक में यह कहा है कि ये सुलभ विषय भी जब जीवों को रुचिकर न लगे, इन विषयों में प्रीति न जगे तो वह योग्यता आ सकती है कि ज्ञान में यह उत्तम तत्त्व प्रकाश पाये। इन्द्रियां के विषयों से वैराग्य होवे तो आत्मा का यह विशुद्ध स्वरूप अनुभव में आने लगता है। भोगने के बाद तो कुछ विवेक बनता है कि अरे न भोगते भोग तो क्या था, बड़ा सुरक्षित रहता। जब ज्यादा पेट भर जाता है, कुछ अड़चन सी होने लगती है अथवा कोई उदर विकार हो जाता है तो वह सोचता है कि मैने बड़ी चूक की, अधिक चीज खा ली, अगर न खाते तो कुछ भी नुकसान न था। यह कष्ट तो न होता जिसके दर्द के मारे यह बेचैनी हो रही है। तो भोग भोगने के बाद फिर सुध आती है। यह कुछ यद्यपि जघन्य ज्ञान की बात है, लेकिन भोगने के बाद भी यदि यथार्थ रूप में सुध आ जाय तो वह भी भली बात है। मोही प्राणियों को तो केवल विषय भोग, इन्द्रियविषयों के साधन जोड़ना, धन कमाना—ये ही सब रुचिकर लग रहे हैं। इन विषयों की प्रीति तो स्वात्मा के अनुभव में बाधक है। यह सभी विषयों की चाह और परिग्रहों की मूर्छा हो जाये तो आत्मा आनन्द का स्वाद लेने लगता है।

व्यर्थ के कोलाहल से अलाभ—हे आत्मन् ! व्यर्थ के कोलाहल से क्या लाभ पा लोगे? दूसरे जीवों से प्रीति बढ़ाना और दूसरों का भार अनुभव करना, दूसरों के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करना ये सब व्यर्थ के कोलाहल है, इनमें मिलता कुछ नही है, आखिर मरना सबको पड़ता है। मरने के बाद भी इस जीवको यहाँ के कामों से कुछ लाभ मिले तो बतावो। जो जीव चला गया यहाँ से तो लोग शरीर को तुरन्त जलाने का यत्न करते हैं। भले ही कभी किसी बूढ़े के मर जाने पर बहुत बड़ा विमान सजाया जाय, शंख बजाया, पर अब उस आत्मा के लिए क्या है? उसने तो अपने जीवन में जैसा परिणाम बनाया उसके अनुकूल कोई गति पा ली। अब दान, शील, उपकार, संयम कुछ सदाचार पालन किया, बाकी क्या लाभ हो सकता है?

बहकावे का ज्ञानी पर अप्रभाव—किसी के मरने पर उसका श्राद्ध करने से उस मरे हुए जीवको शान्ति मिलेगी ऐसा बहका कर लोगों ने अपनी आजीविका बनायी है। साल भर बाद उसी दिन इतने लोगों को खिलावोगे, इतनी-इतनी चीजें गंगा यमुना के किनारे बैठे किसी नियत पुरुष को पूज्य मानकर दे दोगे तो इतनी चीजें उस मरे हुए पुरुष के पास पहुंचा देंगे—ऐसा भ्रम डाल देते हैं। यह सब आजीविका का साधन है दूसरों का। जो मर चुका है उसके पास कैसे क्या पहुंच जायगा। तुम जो करोगे सो तुम्हारे साथ रहेगा। उन पुरुषों ने जो किया सो

उन कुछ विश्राम लेकर अपने आपमें देखो तो सही इन समस्त समागम से भिन्न कोई तेज स्वयं में है अथवा नही। सब प्रकट हो जायगा।

भोगत्याग की प्राथमिकता—भैया। यदि शान्ति की चाह है तो आपको त्यागना पड़ेगा विषयों को। भोगों के त्यागे बिना ज्ञान प्रकाश मिल जाय, ऐसा कभी नही हो सकता। इस कारण जो आत्मस्वरूप के अनुभव के अनुयायी है उन्हें चाहिए कि विषयों को, ठाठबाटों को, समागमों को भिन्न, असार, हेय जानकर उनकी ओर से उपेक्षा करे, और एकांत बैठकर अपने आपमें अपने को एकाग्र कर लें। इस विधि से यदि हमारा ज्ञानप्रकाश बढ़ेगा तो भोग अरुचिकर लगेंगे और यह ज्ञानका अनुभव ही रुचेगा। सब असार है, हेय है, एक अपना आत्मा ही सार है, उसको जानो यही धर्म है बतावो धर्म में कहां मजहब है? यह अमुक धर्म है, यह अमुक धर्म है ऐसा मजहबों का कहां भेद है? आत्मा जब एकस्वरूप है तो धर्म भी एक स्वरूप है। आत्मा का धर्म आत्मा में मिलेगा अन्यत्र न मिलेगा, सो अपने आत्मस्वरूप को सम्हालना यही एक धर्म है और इस धर्म के पालन से संसार के संकट नियम से कटेंगे। एक सारभूत बात यहां कही है कि ऐसा ज्ञान बढ़ावो कि आपको भोग विषय भी रुचिकर न लगे।

श्लोक 39

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।

स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते।।३९।।

जगत् इन्द्रजालोपमता—योगी जन इस समस्त जगत को इन्द्रजाल की तरह समझकर इसे दूर करते हैं और आत्मा की प्राप्ति के लिए स्पृहा रखते तथा आत्मलाभ के सिवाय अन्य किसी भाव में उपयोग कुछ चला जाय तो उसका बड़ा पछतावा करते हैं। इस श्लोक में तीन बातों पर प्रकाश डाला है, प्रथम तो इस समस्त जगत को इन्द्रजाल की तरह निरखता है, इन्द्रजाल का क्या अर्थ है? लोक में तो ऐसी रूढ़ि है कि जैसे बोई तमाशगीर चीज तो कुछ नही है और लोगो को दिखाये, उसको इन्द्रजाल मानते हैं, यह भी अर्थ लगा लो तो भी कुछ हानि नही है क्योंकि जो कुछ दिखता है वह परमार्थ में ऐसा है ही नही, और माही जीव को यही परमार्थ और सत्य नजर आता है, इस कारण यह भी अर्थ ले लो पर इसका वास्तविक अर्थ यह है कि जो कुछ यहां दृश्यमान है यह सब इन्द्र का जाल है। इन्द्र मायने आत्मा। उस आत्मा की विकार अवस्था होने से जो कुछ परिणमन होता है उससे जो कुछ यह सारा जाल बिछा हुआ है यह इन्द्रजाल है। अलंकार न लेना कि यह आमूल इन्द्रजाल ही है यह सब कुछ। यह आत्मा का जाल है।

इन्द्र का जाल—यह प्रभु जो अनादि अनन्त अहेतुक अन्तः प्रकाश भाव है, प्रत्येक जीव में विराजमान है। जीवो का जो स्वभाव है वही तो प्रभु है वह प्रभु पर्याय में जकड़ा है, विकृत होकर जब यह अपना जाल फैलाता

है तो इसका जाल भी बड़ा विकट है। यह प्रभु इतना समर्थ है कि सुधार का भी बड़ा विकट चमत्कार दिखाता है और विकार का भी बड़ा विकट चमत्कार दिखाता है। कोई वैज्ञानिक किसी भी प्रकार ऐसा इन्द्रजाल बना तो दे। उसमें इतनी सामर्थ्य नही है। भले ही वह अजीव पदार्थों को परस्पर में सम्बद्ध करके एक निमित्तनैमित्तिक पद्धति में कुछ असर दिखा दे। किन्तु इन्द्रजाल नही बना सकता है। तो यह योगी सर्वत्र इन्द्रजाल देखता हे, इन्द्र का स्वरूप नही हे यह, किन्तु इन्द्र का जाल है, इसी कारण वह किसी भी इन्द्रजाल में रमता नही है।

विषयसाधनों की जलबुद्‌बुदसम असारता—भैया ! इस लोक में रमण करने योग्य क्या है? जो कुछ है वह सब जल के बुदबुदे की तरह चंचल है, विनाशीक है, कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाला है। जैसे जल का बबूला देर तक ठहरे तो उस पर बच्चे लोग बड़े खुश होते हैं, और शान के साथ किसी बबूले को अपना मानकर हर्ष के साथ कहते हैं देखो मेरा बबूला अब तक ठहरा है। बरसात के दिन है, जब ऊपर से मकान का पानी गिरता है तो उसमें बबूले पैदा हो जाते हैं, बच्चे लोग उनमें अपनायत कर लेते हैं कि यह मेरा बबूला है, कोई लड़का कहता है कि मेरा बबूला है, अब जिसका बबूला अधिक देर तक टिक जाय वह बच्चा उठता है, मेरा बबूला अब तक बना हुआ है। ऐसे ही यह पर्याय, यह जाल यह शरीर बबूले की तरह है। इन अज्ञानी बच्चों ने अपना-अपना बबूला पकड़ लिया है, यह मेरा बबूला है, यह बबूला कुछ देर तक टिक जाय तो खुश होते हैं, मेरा बबूला अब तक टिका हुआ है। यो यह योगी पुरुष इन्द्रजाल की तरह समस्त जगत को जान रहा है। यहां किससे प्रीति करे, कौन सहाय है, किसका शरण गहे, जो कुछ भी है वह सब अपने लिए परिणमता है।

वस्तु में अभिन्नषट्कारकता—भैया ! यह लोक अपना ही स्वार्थ साधता है, इसमें गाली देने की गुञ्जाइश नही है, किसी को स्वार्थी आदिका कहने की आवश्यकता नही है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि वह स्वयं से सम्प्रदान हो सकता है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं कर्ता है। स्वयं कर्म है, स्वयं करण है और स्वयं ही सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी है अर्थात् पदार्थ परिणमता है, यही तो करने वाला हुआ, और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमन के द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमन के द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमन के द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और परिणाम करके फल क्या पायगा, किस लिए परिणम रहा है, वह फल भी स्वयं है। किससे परिणमता है, किसमें परिणमता है, सो वह अपादान व अधिकरण भी स्वयं है।

पदार्थ के परिणमन का सम्प्रदान—पदार्थ के परिणमने का फल क्या है? वह फल है सत्ता रहना। प्रत्येक पदार्थ के परिणमन का प्रायोजन इतना ही मात्र है और फल इतना ही मिलता है कि उसकी सत्ता बनी रहे, इससे आगे उसका कुछ फल नही है। यह समझदार है जीव इसलिए इसने बेईमानी मचा रक्खी है। जो समझदार नही है वे पदार्थ अब भी अपने ईमान पर टिके हुए है, वे परिणमते हैं मात्र अपना सत्व रखने के लिए किन्तु

ये विकारी, रागी जीव परिणमते ह तो न जाने कितने प्रयोजनों को बताते हैं। मैं संसार में यश बढ़ा लूँ, सम्पदा बढ़ा लूँ, अनेक विषय सुखों के साधन छुटा लूँ, कितने ही प्रयोजन बनाते हैं। भले ही ये कल्पना में कितने ही प्रयोजन बनाएँ किन्तु एक संत पुरुष की ओर से तो प्रयोजन वही का वही रहता है जो अचेतन को मिलता है, इससे अधिक कुछ नही है। यह जीवज्ञानरूप परिणमता है तो ज्ञानरूप परिणमने का फल ज्ञान ही रहता है, इससे अतिरिक्त कुछ फल नही है। जो और कुछ फल खोजा जाता है वह सब मोह का माहात्म्य है। वस्तुतः अपनी सत्ता कायम रखने के लिए ही पदार्थ परिणमन करते हैं। जैसे यह चौकी है, इसको कोई जला दे तो क्या हो गया इसका? इसका ही यो परिणमना हो गया। न भी कुछ करे तो भी यह जीर्ण होती जा रही है, परिणमती जा रही है। किसी भी रूप परिणमें, इन परिणमनों का प्रयोजन इतना ही मात्र है कि परमाणुवों की सता बनी रहे, अब कोई भी चीज किसी भी प्रकार परिणमें उसका प्रयोजन यह मोही जीव अपनी कल्पना के अनुसार बना लेता है।

योगी की आत्मस्पृहा—यह समस्त जगत इन्द्रजाल की तरह है। इन सबको यह योगी शान्त कर देता है। इस सारे जगत् को यह योगी ओझल कर देता है अपने उपयोग से और होता क्या है कि अंधकार में सर्व पदार्थ ओझल हो जाते हे। रहो, किसी प्रकार रहो। अब योगी के लिए यहाँ कुछ भी नही है, यो इन्द्रजाल की तरह इन समस्त पदार्थों को यह ज्ञानी अपने उपयोग से ओझल कर देता है। अब ज्ञानी के केवल आत्मा की ही स्पृहा रहती है और यह अंतस्तत्व ही उसके प्रोग्राम में, लिस्ट में रह जाता है। ये योगी केवल आत्मलाभ की स्पृहा करते हैं। मेरा आत्मा मेरे को मिले, ये भिन्न असार पदार्थ, इनका मिलना जुलना सब खतरे से भरा हुआ है कोइ रुच गया राग तो क्या वह कुछ बढ़वारी के लिए है? कोई अनिष्ट जंचा, द्वेष किया वह भी बरबादी के लिए है। मेरा शरण, रक्षक यह मेरा आत्मा मेरे को प्रकट हो, और मुझे कुछ न चाहिए।

आत्मलाभ की आकांक्षा—जैसे कोई जबरदस्त मुसाफिर किसी कमजोर मुसाफिर को दबाकर उसकी हानि कर दे और उसका झगड़ा बढ़ जाय तो वह कमजोर मुसाफिर यही कहता है कि बस मेरी चीज दिला दो, मुझे और कुछ न चाहिए। वह अपनी मांग करता है, यो ही यह बना बनाया गरीब एक बडे फंद और विडम्बना में पड़ गया है। कहाँ तो यह अमूर्त निर्लेप ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व उत्कृष्ट पदार्थ है और कहाँ यह सुख दुःख पर्याय, कल्पना, शरीर इनमें बँधा फिर रहा है और अपने राग की जिस विषय में ममता की है उस विषय के पीछे-पीछे भटकता फिरता है। जैसे बछड़े वाली गाय को हांकना नही पड़ता है यदि उसके बछड़े को कोई गोद में लेकर चलता जाय आगे, वह गाय उस बछड़े के पीछे-पीछे हींडती भागती चली जायगी। अपनी विपदा को भी वह न देखेंगी, ऐसे ही यह मूढ़ात्मा अपने राग का जो विषय बनाता है उस विष के पीछे यह आत्मा दौड़ता भागता फिरता है। न अपनी विपदा को देखता है, न अपनी बरबादी का ख्याल है। ऐसा यह मोही जीव संसार-भ्रमण में गोते लगा रहा है, किन्तु यह ज्ञानी पुरुष एक आत्मलाभ की ही स्पृहा करता है।

मेरा और मैं का निर्देश—मुझे तो मेरा मैं चाहिए अन्य कुछ न चाहिए, इस ही का नाम है योग धारण। योग मायने जोड़। मेरा मैं बिछुड़ा हुआ हूं, इसका जोड़ कर दीजिए। मेरे को मैं मिल जाय यही है योग। जिसको मेरा कहा जा रहा है वह तो है उपायों के रूप में ओर जिसे मैं कहा जा रहा है यह है परम पारिणामिक भावमय अंतस्तत्त्व के रूप में। यह उपयोग कह रहा है कि मेरा मैं मिल जाय। मेरा जो आधारभूत है जिस पर मेरी स्पृहा चलती है, जिस पर मैं अपना चमत्कार दिखा पाता हूं, अपना जौहर दिखाया करता हूं ऐसा मेरा नाथ शरण मुझे मिल जाय यही मेरा नाथ है। न अथ। अथ मायने आदि। जिसकी आदि नही है उसे नाथ कहते हैं। यह उपयोग यह परिणमन तो सादि है। जिसकी कुछ आदि हो उसकी क्या वखत करूँ। जिसकी आदि नही है उसकी वखत है। नई फर्म खुली हो किसी के नाम पर तो उसका कुछ असर नही होता और पुरानी फर्म हो तो लोग बदलते नही है। उसे चाहे पोते और सन्ते में भी बाँट हो। लोग सोचते हैं कि पुरानी फर्म का नाम न बदले, नही तो फिर ठिकाने की सम्भावना नही है। जिसका आदि नही है ऐसा मेरा नाथ वही विश्वास के योग्य है। जिसकी आदि है वह मिट जायगा। ऐसे परिणमनों पर इस ज्ञानी का उपयोग नही थमता है। यह तो एक अंतस्तत्व के लाभ के लिए स्पृहा करता है।

ज्ञानी का परोपयोग में अनुताप—यह अज्ञानी योगी अपने आत्म मिलन के लिए उद्यत है फिर भी पूर्व वासना वश उससे डिग जाय और किन्ही बाह्य अर्थों मे लग जाय तो उसे ऐसा पछतावा होता है कि इतने क्षण हमने व्यर्थ में विकल्पों में लगाये। ज्ञानी जन कभी उपवास करते हैं तो उस उपवास का उनके लक्ष्य क्या है? उस आहार के प्रसंग में जो पौन घंटे का समय लग जाता है उस समय में जो आत्मतत्त्व से चिगने का विकल्प बनता है उसका वे पछतावा करते हैं निराहार रहने में वे खुश है, पर आत्मतत्त्व के उपयोग से चिगने में वे खुश नही है, इसलिए उनका आहार छूट जाता है, वे निराहारी हो जाते हैं।

अज्ञान से व्यवहारधर्म में भी कर्तृत्व बुद्धि —इस आहारत्याग में धर्म लग जायगा, पुण्य बंध जायगा, मुझे उपवास करना चाहिए ऐसा सोचना विकल्पमूलक उपवास है। एक झंझट से बचे और अपने आत्मलाभ में लगे ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुष के होती है अज्ञानी तो उपवास में क्षोभ बढ़ाता है, एक दिन पहिले क्षोभ किया, जब उपवास किया तब क्षोभ, अंत में क्षोभ किया। किसी ने कई उपवास किया तो शरीर के कमजोर होते हुए भी यह कहता है कि भाई हमें तो कुछ भी नही कठिनाई मालूम पड़ रही है? हम तो बड़े अच्छे है ऐसे मायाचार को बढ़ावे, तृष्णा को बढ़ावे क्रोध को बढ़ावे घमंड को बढ़ावे इसी सभी चीजें बढ़ाने का ही वास्तवमें उसने कार्य किया, कुछ अपने हित का कार्य नही किया।

ज्ञानी अन्तर्दृष्टि—ज्ञानी पुरुष की दृष्टि को ज्ञानी ही कूत सकता है, अज्ञानी नही कूत सकता है। गृहस्थ ज्ञानी यदि यथार्थदृष्टि है तो गोद में बालक को खिलाकर भी सम्बर और निर्जरा उसके बराबर चलती रहती है। कैसी है उसकी दृष्टि? बच्चे को खिलाता हुआ भी यह ध्यान बना है कि कहाँ इस झंझट में लग गए है, न जाने अभी

कितने वर्ष तक इस झंझट में लगना पड़ेगा, ऐसी भीतर में धारणा हे उस ज्ञानी के। अज्ञानी तो यो देखेंगे कि यह कैसा बच्चों से मोह रखता है। अरे वह बच्चे को खिलाये नही तो क्या गड्ढे में पटक दे करना तो पड़ेगा ही सब कुछ जैसे कि लोग करते हैं, पर उसकी दृष्टि अंतर में इतनी विशुद्ध है कि उन कामों में रहकर भी उसके सम्वर और निर्जरा बराबर चलती रहती है। आत्मलाभ की इतनी विकट स्पृहा ज्ञानी पुरुष में ही होती है।

सजग वैराग्य—जिसको वैराग्य ज्ञानसहित मिल गया है उसका वैराग्य आजीवन ठहराता है। ज्ञान के बिना वैराग्य मुद्रा बनाना, यह तो लोकप्रतिष्ठा, बढ़ावा आदि के लिए है। वैराग्य टिक सकेगा या नही—यह तो ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। ज्ञान बिना वैराग्य में विडम्बनाएँ बढ़ जाती है और वह वैराग्य को नही निभा पाता है और लोग भक्त भी ऊब जाते हैं, यह सब उसके एक अज्ञान का फल है। ज्ञानी पुरुष तो आत्मलाभ के लिए स्पृहा रखता है अन्यत्र कही उपयोग जाय तो पछतावा करता है, ओह इतना समय मेरा व्यर्थ गया? ज्ञानी का साहस एक विलक्षण साहस है, और साहस भी क्या है? जो चीज छूट जायगी उसको अभी से छूटा हुआ मान लेना है, और छूटा हुआ मानने के कारण उपेक्षा बन जाय और कभी थोड़ी हानि हो जाय, तो उसका खेद न आए तो इसमें कौनसे साहस की बात है? इतना ही फेर रहा कि जो १० वर्ष के वाद छूटना था उसको अभी से छुटा हुआ देख रहे हैं। इतना ही किया इस ज्ञानी ने, और क्या किया, पर मोही पुरुषों की दृष्टि में यह बड़े साहस भरी बात है।

अज्ञानी और ज्ञानी की दृष्टि में साहस का रूप—भैया ! साहस तो अनात्मीय चीज को पाने में करना पड़ता है। जो चीज अपनी नही है उसे कल्पना में अपनी बनाना और उसे जोड़ना धरना, रक्षा करना इसमें साहस करना पड़ता है। अपने आपकी वस्तु को अपने आपमें उतारना इसमें कौनसे साहस की बात है? लेकिन अज्ञानियों को ज्ञानियो की करतूत में बड़ा साहस मालूम होता है। ज्ञानी सोचता है कि ये संसारी सुभट बड़े साहसी है। जिन परिजन, मित्रों और जड़ सम्पदावों से इन्हें कष्ट मिलता है उनको सहकर उन्ही के प्रति इच्छा, वाञ्छा और यत्न बनाए रहते हैं, इतनी हिम्मत तो हमसे नही हो सकती, ऐसे ही अज्ञानियों को ज्ञानियों की क्रियावों में बड़ा साहस मालूम होता है। ओह ! ये योगी जन कैसा इस समस्त जगत को इन्द्रजाल की तरह निरखते हैं, कितनी इन्हें आत्मस्वरूप के प्रति अभिलाषा है।

जाल में विविधरूपता—जाल में विविधता होती है, और जो जाल नही, एकत्व है उसमें विविधता नही होती है। जैसे मकड़ी जाल बनाया करती हे तो वह जाल एक लाइन से नही बनता है। गोल मटोल, लम्बा चौड़ा, संकरा, नाना दशावोंरूप होता है—व्यञ्जन पर्याय और एक व्यञ्जन पर्याय में भी भिन्न-भिन्न क्षेत्र में विभिन्न परिणमन पर्याय। यह शरीर एक है, पर पैर में जो परिणमन है वह सिर में नही है, किन्तु जो जाल नही है, एकत्व है वहां यह बात न होगी कि जो एक जगह परिणमन है वह दूसरी जगह नही होता। एकत्व में वही परिणमन सर्वत्र है पर जाल में परिणमन की एकता नही है, विविधता है, इसी तरह गुण पर्याय का भी जाल देखो—ज्ञान

गुण कही पैर पसार रहें है, तो श्रद्धा गुण कही मुख कर रहा है। ये समस्त गुण अपनी-अपनी ढफली बजा रहे हैं, यह इन्द्रजाल का दृश्य, किन्तु एकत्व परिणमन हो तो वहां यह कुछ भी विविधता नही रहती है। जहां रत्नत्रय का एकत्व है वहां तो यह भी पहिचान नही हो पाती कि यह ज्ञान का परिणमन है और यह श्रद्धा का परिणमन है या चारित्र है, वहां तो एक एकत्व का ही अनुभवन है।

इन्द्रजाल का अवबोध—यदि किसी कारणवश इन्द्रजाल की और रंच भी निगाह आती है। तो ज्ञानियो को संताप हुआ करता है जब तक आत्मा को अपने असली स्वरूप का परिचय नही है तब तक ये बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते हैं। जब तक कौवा को यक कोयल का बच्चा है यह पता नही रहता है तब तक जान लगाकर उसकी सेवा करता है। परिचय पड़ जाय तो उससे हट जाता है। भले ही इस अज्ञानी जीवको ये विषय अच्छे लगते हैं। पर जब स्वपर भेदविज्ञान करके ज्ञानी बने तो ये विषय इन्द्रजाल के खेल की तरह असार मालूम होते हैं। मिस्मरेजम वाले लोगों की टोपी उठाकर जब झाड़ते हैं तो रुपये खनखनाते हुए गिरते नजर आते हैं। यदि रूपये यो खनखनाकर गिराते हैं तो वे सबसे क्यों एक-एक आना मांगते है? वह तो एक इन्द्रजाल का खेल है। है कुछ नही।

ज्ञानियों की उपेक्षा व उद्यम—ज्ञानी पुरुषों को ये इन्द्रियविषय निःसार विनश्वर मालूम होते हैं। अब आत्मस्वरूप को त्यागकर अन्य पदार्थों की और उसकी दृष्टि नही जाती है। वह तो आत्मलाभ ही करना चाहता है। जो ज्ञान में रत पुरुष है वे इन सब इन्द्रजालों को यो निरख रहे हैं। यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही ठहरेगी, यह यौवन कुछ दिनों तक ही रहने वाला है, ये भोग बिजली के समान चंचल है, यह शरीर रोगों का मंदिर है, ऐसा निरखकर ज्ञानी जीव परपदार्थों से उपेक्षा करते हैं और ज्ञानानन्दमय अपने आत्मतत्त्व में निरत होने का उद्यम रखते हैं।

श्लोक 40

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः।

निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।।४०।।

ज्ञानी की एकान्तसंवास में वाञ्छा—जब इस आत्मा को अपने झुकाव से और पर की उपेक्षा के साधन से शुद्ध ज्ञानप्रकाश का अनुभवन हो जाता है उस समय में जो अद्भुत आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द के फल में उस आनन्द के लिए यह योगी बडे आदर के साथ एकांत में रहना चाहता है, इच्छा करता है और अपने प्रयोजनवश, धर्मसाधना के प्रयोजन से कदाचित् कुछ कहना पडे तो कह कर शीघ्र ही भूल जाता है। यह स्वानुभव प्राप्त योगियों की कहानी बतायी जा रही है। धर्ममय यह आत्मा स्वयं है। जो कुछ यह मैं हूं उसकी ही बात कही जा रही है।

धर्म का आधार—भैया ! धर्म मिलेगा तो स्वयं में ही मिलेगा। बाह्य में जो भी आदर्श है, पूज्य है वे इस आत्मानुभव के मार्ग के निर्देशक है, इस कारण उनकी भक्ति से एक शुद्ध आनन्द मिलता है और अपने आपमें जो स्थिति उत्पन्न करना चाहते हैं, यह योग जिन्हें प्रकट हुआ है उनमें अपूर्व बहुमान, स्तवन, उपासना का अपूर्व भाव होता है। जिसे जो आनन्द मिल गया है वह जैसे मिलता है उस ही उपाय में लगता है। जहाँ आनन्द नही है ऐसे साधनों से हटता है। सब ज्ञान का माहात्म्य है। जब तक इस जीवको अपने आत्मा का और परपदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध नही होता है तब तक यह अपनी ओर आये कैसे और पर से हटे कैसे?

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की विशेषता—जैन शासन में सबसे बड़ी विशेषता एक वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की है। जीवको मोह ही दुःख उत्पन्न करता हे। वह मोह कैसे मिटे, इसका उपाय वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान कर लेना है। जगत में अनन्तानन्तें तो आत्मा है, अनन्तानंत पुद्‌गल परमाणु है—एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य एक आकाशद्रव्य और असंख्यात काल द्रव्य हे। इनका जो परिणमन है वह कही सूक्ष्म परिणमन है और कही स्थूल परिणमन है पर इन परिणमनों में सर्वत्र एक रूप रहने वाले जो मूल पदार्थ है, जो अनेक दशावों में पहुंच कर भी एक स्वभावरूप रहें वही समस्त परिणमनों का मूल कारण है। जैसे कि जो चिदात्मक गुणपर्यायें है उन सृष्टियों का कारण यह चित्स्वरूप है और जितने जो कुछ ये दृश्यमान है इन दृश्यमान समस्त पदार्थों का मूल कारण अणु है। उस परमाणु में भी परमाणु अकेला रह जाय तब भी परिणमन चलता है। उस परिणमन से परिणत अणु को कार्य अणु कहते हैं और यह वह परिणमन जिस आधार में होता है उसे कारण अणु कहते हैं।

मूल पदार्थ का मोहियों को अपरिचय—इन जीवों ने इन द्रश्यमान पदार्थों का मूल कारण नही जान पाया और न यह समझ पाया कि ये प्रत्येक पदार्थ अपने में ही अपने को अपने लिए अपने द्वारा रचते रहते हैं। किसी के विभाव परिणमन में अन्य द्रव्य निमित्त होते हैं, किन्तु कोई भी निमित्तभूत परपदार्थ उपादान में किसी परिणति को उत्पन्न नही करते हैं। ऐसी वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता एक सूत्र में ही कह दी गई है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। जो भी है वह निरन्तर नवीन पर्याय से परिणमता है, पुरातन पर्याय को विलीन करता है और वह स्वयं कारण रूप में ध्रौव्य बना रहता है। यो जब आत्मा के स्वरूप का भान होता है तो यह निर्णय होता है कि किसी भी पदार्थ का कोई पदार्थ कुछ नही लगता है। सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वतंत्र स्वरूप को लिए हुए है, ऐसा भान होने पर जो परपदार्थ से सहज उपेक्षा होती है और उस उपेक्षा से जो अपने आपके स्वभाव में झुकाव दृढ़ हुआ और एकत्व की दृष्टि बनी उसमें जो आनन्द प्रकट होता है। वह अलौकिक आनन्द है। उसका अनुभव कर चुकने वाले योगी को अब किसी भी समागम में रहने की चाह नही रहती है, वह तो एकान्त वास का अनुरागी है।

अज्ञानावस्था की वाञ्छायें—अज्ञान अवस्था में यश और कीर्ति की चाह हुआ करती है कि मेरा लोक में बड़प्पन रहे, इस अज्ञानी को यह विदित नही है कि जिन लोगो में मैं बड़ा कहलाना चाहता हूँ वे लोग स्वयं दुःखी है, अशरण है, मायास्वरूप है- यह भान नही रहा, इसी कारण इन मायामयी पुरुषों में ये मायामयी पुरुष यश के लिए होड़ लगा रहे हैं। दुःख ओर किस बात का है धन मे लोग बढ़ना चाहते हैं वह भी यश के लिए । यश की चाह अन्तर में पड़ी है तो नियम से जानना चाहिए कि उसके अज्ञानभाव है। जो कारण समयसार है, जो निज मूल शुद्ध चिदात्मक तत्त्व है उसका परिचय नही हुआ है इस कारण दर-दर पर इसे परपदार्थों से भीख मांगनी पड़ती है।

योगीश्वरों का आदर्श—यह ज्ञानी पुरुष निर्जन स्थानों में एकांत का संवास चाहता है। उसे प्रयोजन नही रहा किसी समागम मे रमने का और आदरपूर्वक एकांत चाहता है। ऐसा नही है कि संन्यासी हो गया है इस कारण अलग रहना ही पड़ेगा। घर बसाकर तो न रहा जायगा ऐसी व्यवस्था नही है किन्तु आस्थापूर्वक वह एकान्त स्थान चाहता है। यह उन्नति के पद में पहुंचने वाले योगियों की कथा है। उन्होने निकट पूर्व काल में जो मार्ग अपनाया था, ज्ञान किया था वह ज्ञान हम आप सब श्रावकजनों के करने योग्य है, जिस मार्ग से चलकर योगी संत महान् आत्मा हुए है, वे चलकर बताते हैं, कि इस रास्ते से हम यहां आ पाये हैं, इसी उत्कृष्ट पथ से चलकर तुम अपने आपके उत्कृष्ट पद को पा लो।

अज्ञान और उद्दण्डता—बेवकूफी और धूर्तता—इन दो ने जगत के जीवो को परेशान कर दिया है। बेवकूफी तो यह है कि पदार्थ का यथार्थ स्वरूप न विदित हुआ और एक का दूसरे पर अधिकार सम्बन्ध दिखने लगा। यह तो है इसका अज्ञान और इतने पर भी अपने को महान मान लेना। कोई छोटी बिरादरी का हो तो वह भी अपने को छोटा स्वीकार नही कर सकता है, कोई निर्धन हो वह भी अपनी दृष्टि में अपने को हल्का नही मान सकता है। एक तो अज्ञान रहा और अज्ञान होने पर भी अपने में बड़प्पन की बुद्धि रहे, जिससे अभिमान बने और भी प्रतिक्रियायें करने का यत्न होना यह है इस मोही जीव की धूर्तता । अज्ञान ही होता, सरल रहता तो भी अधिक बिगाड़ न था, किन्तु अज्ञान होने पर भी अपने आप में बड़प्पन स्वीकार करना यह और कठिन चोट है, इससे परेशान होकर यह जीव चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है।

जीव का सर्वत्र एकाकीपना—यह जीव अकेला ही जन्ममरण करता है, सुख दुःख भोगता है, रोग शोक आदि वेदनाएँ पाता है, स्त्री पुत्रादि को लक्ष्य में लेकर यह अपने रागद्वेष और मोह का विस्तार बनाया करता है, यहां कोई भी इस जीव का साथी नही है। वे सब केवल व्यवहार में स्वार्थ बुद्धि से रंगे हुए इस जन्म में ही साथी हो सकते हैं। कोई भी कभी मेरी विपदा में रंच साथ नही दे सकता है। ऐसी समझ द्वेष के लिए नही करना कि ये कोई साथी नही है, क्यों द्वेष करना? क्या तुम हो किसी के साथी? जब तुम किसी के साथी नही हो तो

कोई दूसरा तुम्हारा साथी कैसे हो सकता है? यह तो वस्तुस्वरूप ही है। यह द्वेष के लिए समझ नही बनाना, किन्तु उपेक्षा परिणाम करने के लिए ध्यान बनाना है।

व्यामोहवृत्ति—यह मोही आत्मा अपनी भूल से ही इन परजीवों को अपनी रक्षा का कारण समझता है। ये मेरी रक्षा करेंगे। कहो समय आने पर जिसका विश्वास है वही विपदा का कारण बन जाए। लेकिन मोह में जो दिमाग मे आया, क्योंकि शुद्ध मार्ग का तो परिचय नही है सो अपनी कुमति के अनुसार दूसरों का रक्षक मानता है और उन्हें त्यागने में भय मानता है मैं इस रक्षक का त्याग कर दूँ तो कही मेरा गुजारा न खत्म हो जाय ऐसा भय मानता हे और कभी वियोग हो जाय, होता ही है, जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियम से होता है। तब यह अज्ञानी बड़ा क्लेश मानता है।

अज्ञान की कष्टरूपता—जो संयोग में हर्ष मानते हैं उनको वियोग में कष्ट मानना ही पड़ेगा। जो संयोग के समय भी वियोग की बात का ख्याल रखते हैं कि जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा, तो उनके संयोग के समय भी आकुलता नही रहती और वियोग के समय भी आकुलता नही रहती। यह मोही जीव जब अपने अभीष्ट का वियोग देखता है तो यह व्याकुल होने लगता है। अज्ञान दशा में कही जाय तो इसे कष्ट है, क्रोध में रहे तो भी अज्ञान से कष्ट है। गृहस्थी त्यागकर साधु संन्यासी का भी भेष रख ले तो वहां भी कष्ट है कष्ट किसी परिस्थिति से नही होता है किन्तु अपने अज्ञान भाव के कारण कष्ट होता है, और शुद्ध ज्ञान होने पर कष्ट मिट जाता है, यह अपने में विवेक जागृत करता है। विवेक क्या है? विवेचन करने का नाम विवेक है, अलग कर लेने का नाम विवेक है। विवेक शब्द का अर्थ ही अलग कर लेना है। अपने आपको समस्त परपदार्थों से विविक्त देखना, अपने एकत्वस्वरूप को आँकना यही वास्तविक विवेक है।

विवेक वृत्ति—जब यह जीव विवेक उत्पन्न करता है, मैं अकेला ही हूं, मेरा कोई दूसरा साथी नही है, मैं मेरे द्रव्यत्व और अगुरूलघुत्व स्वरूप के कारण अपने आप में ही निरन्तर परिणमा करता हूं। जो भी परिणति मुझमें होती है, सुख हो अथवा दुःख हो, इन सबका मैं अकेला ही कर्ता और भोक्ता हूं। दूसरे जन मेरी ही भांति अपना मतलब चाहते हैं इन समागमों में रहना कष्टदायी मालूम होने लगता है। अपने आत्मस्वरूप से चिगकर किसी बाह्य की और विकल्प करना पडे इसे यह कष्ट मानता है। क्यों विकल्प किया जा रहा है? कुछ हित की सिद्धि है क्या इसमें? वे सब विकल्प मेरे प्राणघात के लिए है अर्थात् शुद्ध जो चिदानन्दस्वरूप है उसका आवरण करने के लिए है। उन विकल्पों से यह दूर रहना चाहता है।

अन्तस्तत्त्व के रुचिया का अन्त आश्रय—विकल्पों से निवृत्ति के अर्थ ही वह निर्जन स्थान में रहने की अभिलाषा करता है, क्योंकि साधन सामने रहे तो वे विकल्पो के निमित्त बन सकते हैं इसलिए उन समागमों को ही छोड़कर किसी निर्जन स्थान में यह रहने की चेष्टा करने लगता है, करता है, परन्तु सदा एकांत मे रह

जाना बड़ा कठिन है। क्षुधा, तृषा की वेदना का कारणभूत शरीर साथ लगा है उसकी वेदना को शान्त करने के लिए कुछ समागम होना ही पड़ता है। ये योगी क्षुधा की शान्ति के लिए नगर में भिक्षावृत्ति करते हैं, अथवा कभी किसी से वचनालाप का प्रसंग होता है तो अवसर पर बोल देते हैं। बोलने के बाद फिर उन सबका यह विस्मरण कर देता है। क्या-क्या चीजें स्मरण में रक्खे, किन्ही परपदार्थों को अपने उपयोग में बसाये रहने का क्या प्रयोजन है? कौन सा कर्ज चुकाना है, कौन सी आफत हे जिससे वह बाह्य पदार्थों को अपने उपयोग में रक्खे, नही रखना चाहता है।

वृत्ति की प्रयोजनानुसारिता—लाख बात की बात तो याद रहती है और सब प्रयोजनों की बात याद नही रहती है। जैसे गृहस्थजनों को, व्यापारियों को गृहस्थी और व्यापार की बात बहुत याद रहती है, कैसा थान है, कहां धरा है, कैसा रंग है, कैसी क्वालिटी का है, सारा नक्शा अब भी खिंच सकता है, सब चीजों को भाव ताव याद रहता है। देखने की भी जरूरत नही है, शक्ल देखकर बता देते कि यह इस भाव का है। तो उस बाह्यरुचिक गृहस्थों को व्यापारियों को ये सब बातें तो याद रहती है पर धर्म की बातें या ज्ञान सीखते हैं तो याद नही रहती है, ठीक है, अंत में यह ज्ञान ही प्रयोजन हो जायगा। अभी तो गृहस्थी के जंजाल का प्रयोजन है, उसकी सुध बहुत रहती है, धर्म और ज्ञान की सुध नही रहती है। जब विवेक जगेगा, जब यह उपयोग कुछ मोड़ खायगा, तब इस जीव को ज्ञान की सुध बनेगी, अन्य सब बातें भूल जायेगी।

अप्रायोजनिक विषय का विस्मरण—खाने के लाल सावंतों को कितना याद रहता है कि कल क्या खाना है? जो कल खाना है उसका साधन अभी से ही जुटाते हैं, ज्ञानीसंत पुरुष भोजन करते हैं, पर उन्हें भोजन की कुछ याद नही रहती है। भोजन के समय तो चूँकि उनके पास विवेक है सो उसकी बात समझने के लिए याद रखना पड़ता है, पर प्रयोजन एक ज्ञान का साधुओं का ही है, इस वजह से भोजन करते हुए में भी भोजन के स्वाद में वे मौज नही मानते हैं क्योंकि उनका उपयोग ज्ञान की ओर लगा हुआ है। भोजन करते जा रहे हैं पर वे उसके ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं।

लोकदृष्टि की प्राकृतिकता—जो मन लगाकर खाये उसको भक्ति पूर्वक खिलाने का भाव नही होता है, जो मन न लगाकर खाये उसको सभक्ति खिलाने को भाव होता है। यह सब विशेषता है । जो मन लगाकर नही खाते हैं उनको ही साधु कहते हैं। उनको आहार दान देने में उत्सुकता गृहस्थ जनों को रहती है, यदि कोई मौज मानकर खाये तो गृहस्थ का परिणाम खिलाने में बढ़ नही सकता है, मन हट जायगा, यह प्राकृतिक बात है। जैसे गृहस्थजन भी भोजन के लिए मना करते जाएँ तो खिलाने वाले मनाकर खिलाते हैं, और लाओ-लाओ कहें तो परोसने वाले के उमंग नही रहती है। ऐसे ही जो जगत से उपेक्षा करके अपने स्वरूप की ओर मोड़ करते हैं उनकी सेवा में जगत दौड़ता है और जो जगत की ओर मुख किए हुए है उनकी ओर से यह जगत मुड़ता है।

ज्ञानी का तात्त्विक उद्यम—यहाँ यह कहा जा रहा है कि यह योगी ज्ञानी पुरुष चूँकि एक अलौकिक आनन्द का अनुभव ले चुका है। अपने आपके स्वरूप में, इस कारण उसकी प्राप्ति के लिए ही इसका उद्यम होता है और यह निर्जन स्थान में पहुंचना चाहता है। इस आत्मध्यान के प्रताप से मोह दूर हो जाता है, और जहाँ सबको मन में बसाये रहें तो यह मोह कष्ट देता रहता है, छुट्टी नही देता है। विविक्त निःशंक शुद्ध ज्ञानप्रकाश जो है वह सर्व संकटो से मुक्त है, उसके ध्यान से ये मोह राग द्वेष बिल्कुल ध्वस्त हो जाते हैं।

आत्मनिधि के रक्षण का पुरुषार्थ—भैया ! सब कुछ न्यौछावर करके भी ज्ञानानुभव का आनन्द आ जाय तो उसने सब कुछ पाया है। सब कुछ जोड़कर भी एक ज्ञानस्वरूप का परिचय नही हो पाया तो उसने कुछ नही पाया है। लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति भी जोड़ ले तो भी एक साथ सब कुछ छोड़कर जाना ही पड़ता है, और ज्ञानसंस्कार, ज्ञानदृष्टि शुद्ध आनन्द की प्राप्ति कर लेना ये सब शरीर छोड़ने पर भी साथ जाते हैं। जो ज्ञान और आनन्द की निधि है वह कभी छूटती नही है। जो आत्म की निधि नही है वह कभी आत्मा के साथ रहती नही है। गुरू परम्परा में बतायी हुई पद्धति के अनुसार जो आत्मस्वरूप का अभ्यास करता है वह योगी ध्यान के जो भी साधन और स्वरूप है उनका साक्षात्कार करता है अर्थात् जिस समय आत्मस्वरूप के चिन्तन में यह योगी लीन हो जाता है उस समय उसे संसार का कोई भी पदार्थ, अपने प्रयोजन का कोई भी तत्त्व समझिये इसे अदृश्य हो जाता है।

ज्ञानस्वरूप के आश्रय का प्रसाद—जो अपने ज्ञान को बाह्य पदार्थों की ओर जानने के लिए लगाए उसके ज्ञान का विकास नही होता है और जो बाह्य पदार्थों से हटकर केवल अपने केन्द्र को ही जानने का यत्न करे तो स्वयं ही ज्ञान का एक ऐसा विकास होता है कि यह लोकालोक समस्त एक साथ स्पष्ट विज्ञान होने लगता है। आनन्द में बाधा देने वाली दो बातें है—एक तो ज्ञान न होना, दूसरी इच्छा बनाना। जब किसी वस्तु का ज्ञान नही है और इच्छा बनी हुई है तो आकुलता होती है। किसी वस्तु का ज्ञान नही है तो न रहने दो, तुम उसके ज्ञान की इच्छा और मत करो, फिर आकुलता कुछ नही है। इच्छा न हो ऐसी स्थिति तब बनती है जब कि ज्ञान स्पष्ट हो, इस कारण पदार्थ के स्वरूप का परिज्ञान करके केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने का अभ्यास करे और इच्छा न करे तो वह परमात्म स्थिति इसके निकट ही है। स्वयं ही तो परमात्मस्वरूप है, इसकी और आये तो क्लेश दूर हो। इस प्रकार यह योगी परमार्थ एकांत निज आत्मतत्त्व की ही चाह करता है।

श्लोक 41

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।

स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

समाधिनिष्ठ योगी का व्यवहार—जिस पुरुष ने आत्मतत्त्व को स्थिर कर लिया है अर्थात् जो समाधिनिष्ठ योगी आत्मास्वरूप का दृढ़ अभ्यासी हो जाता है वह प्रयोजनवश कदाचित् कुछ बोले भी, तो बोलता हुआ भी अतः बोल नही रहा है कही जाय वह तो जाता हुआ भी अन्तरंग से जा नही रहा है, कही देखे भी, तो वह देखता हुआ भी देख नही रहा है।

आनन्दधाय में उपयोग—जिसको जहां रसास्वादन हो जाता है उसका उपयोग वहां ही रहता है। जिसे जो बात अत्यन्त अभीष्ट है उस अभीष्ट में ही वह स्थित रहता है। ज्ञानी को ज्ञान अभीष्ट है इसी कारण वह अन्य क्रियाएँ विवश होकर करे तो भी वह अन्य क्रियावों का कर्ता नही है जैसे फर्म के मुनीम की केवल अपने परिवार से सम्बंधित आय पर ही दृष्टि है, वहां ही ममत्व है, और जो लाखों का धन आए उसमें ममत्व नही है। तो वह हिसाब किताब रखकर भी, सब कुछ सम्हालता हुआ भी कुछ नही सम्हाल कर रहा है, अथवा जैसे धाय बालक को पालती है, पर धाय का प्रयोजन तो मात्र इतना ही है कि हमारी आजीविका रहेगी, गुजारा अच्छा चलेगा। इतने प्रयोजन से ही उसको ममत्व है। तो वह बालक का श्रृंगार करके भी वस्तुतः श्रृंगार नही कर रही है। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुष को अध्यात्मरस का स्वाद आया है वह प्रत्येक प्रसंगो में चाहता है केवल अध्यात्म का रसास्वादन। जब वह कुछ भी बाह्य में क्रिया करे तो भी उन क्रियावों का वह करने वाला नही है।

योगीश्वर का व्यवहार—शुद्ध आत्मतत्त्व का परम आनन्द पा लेने वाले योगी के एक सिर्फ आत्मदृष्टि के अतिरिक्त अन्य सब बातें, व्यवसाय पदार्थ, नीरस और अरुचिकर मालूम होते हैं, किसी भक्त पुरुष को कहाँ उपदेश भी देना पड़े तो वह उपदेश देता हुआ भी न देने की तरह है। कर्मों के उदय की बात वीतराग पुरुषों के भी हुआ करती है। अरहंत, तीर्थंकर परमात्मा हो गए, उनको अन्तरंग से कुछ भी बोलने की इच्छा नही है, लेकिन कर्मों का उदय इस ही प्रकार का है कि उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनके उपदेश दिव्यध्वनि रूप में होते हैं। जब वीतराग परमात्मा के भी किसी स्थिति तक कर्मोदयवश योग होता है, बोलना पड़ता है, यद्यपि उनका यह बोल निरीह है और सर्वांगनिर्गत है, किन्तु यह अवस्था आत्मा के सहज नही होती है। तब जो राग सहित है ऐसे योगीश्वर जिनको वीतराग आत्मतत्त्व से प्रेम किन्तु रागांश शेष है उन्हें कोई अनुरोध करता है तो वे उपयोग भी देते हैं, अथवा कोई समय निश्चित कर दिया लोग जुड़ जाते हैं तो बोलना भी पड़ता है, किन्तु वह योगी बोलकर भी न बोलने की ही तरह है।

प्रत्येक प्रसंग में आत्महित दृष्टि—जो आत्महित का अभिलाषी है वह अन्तरात्मा अपने उपयोग को यहाँ वहाँ न घुमाकर अपना अधिक समय आत्मचिन्तन में ही लगाते हैं। उनका बोलना भी इसी के लिए है। वे उपदेश देने के प्रसंग में भी अपने आप में ज्ञान का बल भरते हैं। प्राक्पदवी में आत्मध्यान के काम में लगने पर भी वासना वश शिथिलता आ जाती है और उपयोग अन्यत्र चलने लगता है तो वह योगी दूसरों को कुछ सुनाने के रूप से अपने आप में अपनी शिथिलता को दूर किया करते हैं, वे अपनी दृष्टि सुदृढ़ बनातें है। जो जिसका

प्रयोजक है, जिसने जो अपना प्रयोजन सोचा है वह सब प्रसंगों में अपने प्रयोजन की सिद्ध जैसे हो उस पद्धति से प्रवृत्ति करता है।

ज्ञानी के क्रिया में आसक्ति का अभाव—भैया ! स्वपर के उपकार आदि कारणों से उन्हें वचन भी कुछ कहने पड़ेगे तो बोलते हैं, पर न बोलने की तरह है। शरीर से कुछ करना पड़े तो करते हैं, पर न करने की तरह है किसी भी क्रिया में ज्ञानी की आसक्ति नही है, अन्य बातें कुछ भी उनके धार्मिक प्रसंग की बातें है उन बातों को भी वे अन्तरंग रुचि से नही करते हैं, अर्थात यही मेरा ध्येय है ऐसी उनकी रुचिकर नही रहती है। किन्तु सहज अंतः प्रकाशमान जो अंतस्तत्व है उसकी सिद्धि के लिए व्यवहार धर्म का पालन करते हैं । इतनी परम विविक्ता इन ज्ञानी संतो के प्रकट होती है, ये कुछ करते हुए भी न करने की तरह है। जो पुरुष आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य क्रियावों में चिर क्षण तक उपयोग नही देते हैं वे ज्ञानबल से ऐसा बलिष्ट बनते हैं कि वे आत्मस्वरूप से च्युत नही हो सकते। उनके आत्म शान्ति में किसी भी निमित्त से बाधा न हो सकेगी।

सुख दुःखादि की ज्ञानकला पर निर्भरता—सुख और दुःख दोनों का होना ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। जो सांसारिक सुख है और दुःख है वे तो अज्ञान पर निर्भर है किन्तु सुखों में परम सुख अथवा शुद्ध आनन्द वह ज्ञान प्रकाश पर निर्भर है। यही बैठे ही बैठे किसी परपदार्थ से थोड़ा सम्बंध की दृष्टि मान ले तो चाहे वह अनुकूल हो और चाहे प्रतिकूल हो, दोनों ही स्थितियों में सम्बंध बुद्धि वाला पुरुष दुःखी होगा। संसार के सभी जीव अपना दुःख लिए हुए भ्रमण कर रहे हैं। वे दुःखों को त्यागकर विश्राम से नही बैठ पाते हैं ज्ञान बिना सारा साज श्रृंगार, बड़प्पन, महत्त्व, व्यापार, व्यवसाय चटकमटक सब व्यर्थ है। किसे क्या दिखाना है, कौन यहाँ हमारा प्रभु है जिसको हम अपना चमत्कार श्रृंगार साज धाज बताएँ? यह जो हमारा अमूर्त आत्मा है उसे तो कोई जानता नही। जो ये दृश्यमान है, पिंड है, ये स्वयं अचेतन है। ये मैं हूं नही, तब फिर किसी को कुछ भी जताने का अभिप्राय वह मिथ्या है।

अहंकार व ममकार का दोष—व्यामोही जीवो में अहंकार और ममकार ये दो दोष बड़े लगे हुए है। जिस पर्याय में यह जीव जाता है उस ही पर्याय को अहं रूप से मानने लगता है, मैंने किया ऐसा, मैं ऐसा कर दूंगा, मेरा अब यह कार्य-क्रम है। एक तो पर्याय में अहंबुद्धि लगा ली है, यह अहंकार का महादोष इस जीव में लगा हुआ है। दूसरा रोष ममकार का है। किसी भी परपदार्थ को यह मेरा है ऐसा ममत्व परिणाम इस जीव के बना हुआ है। दोनों ही परिणाम मिथ्या है, क्योंकि न तो कुछ बाह्य मैं हूं और न कुछ बाह्य मेरे है। यह संसार इस ही अहंकार और ममकार की प्रेरणा से दुःखी हो रहा है। ज्ञानी पुरुष के किसी भी परपदार्थ में आसक्ति नही होती है। वह किसी भी पर को अपना नही मानता, अपने से पर का कुछ सम्बन्ध नही समझता है।

औपाधिकता—देखो लोक में विचित्र प्रकृति के मनुष्य भी देखे जाते हैं। कोई मनुष्य तो इतनी कृपणता रखते हैं कि किसी भी स्थिति में रंच भी उदारता नही दिखा सकते हैं, चाहे कितना ही धन लुट जाय या कितनी ही आधि व्याधियां उपस्थित हो जाने से यो ही हजारों का धन लुट जाय, पर अपने हाथ से किसी भी धर्मप्रसंग के लिए कुछ देने का साहस नही कर पाते हैं और कितने ही पुरुष अपनी सम्पत्ति से अत्यन्त उदासीन रहते हैं, अपनी उदारता किसी भी धार्मिक प्रसंग में बनी रहती है। यह विचित्रता, ये जीव के परिणाम और कर्मो के उदय व क्षयोपशम की याद दिलाते हैं। इस जीव की कितनी विचित्र प्रकृतियाँ हो गयी है? मूल में जीव में केवल ज्ञाता दृष्टा रहने की प्रकृति है पर अपनी उस मूल प्रकृति को तोड़कर, पर प्रकृतियों से उत्पन्न हुई प्रकृतियों में यह लग गया है और उन प्रकृति परिणामों से दुःखी रहता है, संसार भ्रमण करता है। जो तत्त्वज्ञानी जीव है वे प्रकृति के जाल को त्यागकर अपनी शुद्ध प्रकृति में जाते हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, चिदानन्दमात्र हूं ऐसी उनकी दृष्टि रहती है। वे कही भी रागी नही होते हैं।

मोह की अंधेरी—मोह की अंधेरी आना सबसे बड़ी विपत्ति है और अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होना सबसे बडी सम्पदा है। इस बाह्य पृथ्वीकायक सम्पदा को कोई कहाँ तक सम्हालेगा? किसी भी क्षण यह सम्हाल नही पाता है। चीज जैसी आए, आए पर यह जीव किसी भी सम्पदा को सम्हालता हो ऐसी बात नही है। वह तो अपनी कल्पनावों मे ही गुथा रहता है। इस मायामयी जगत में अपनी पोजीशन की धुन बनाना यह महाव्यामोह है। अरे अरहंत सिद्ध की तरह निर्मल ज्ञाताद्रष्टा रह सकने योग्य यह आत्मा आज इतने विकट कर्म और शरीर के बन्धन में पड़ा है। इसकी पोजीशन तो यही बिगड़ी हुई है। अब इस झूठमूठ पोजीशन की क्या सम्हाल करना है। पोजीशन की सम्हाल करना हो तो वास्तविक पद्धति से पोजीशन की सम्हाल करने में लग जाइए, यह स्वार्थमयी दुनिया तुम्हारा हित न कर सकेगी, तुम्हारे हित के करने वाले मात्र तुम ही हो, इससे अपने आपके कल्याण का उद्यम करना श्रेयस्कर है।

ज्ञानी की दृष्टि—ज्ञानियों के ऐसी शुद्ध दृष्टि जगी है कि वे उस दृष्टि को छोड़ नही सकते हैं। नट कितने भी खेल दिखाये और किसी बांस पर चढ़कर गोल-गोल फिरे, रस्सी पर पैरों से चले, इतने आश्चर्यजनक खेल नट दिखाता है, पर उस नट की दृष्टि किधर है, कार्य क्या कर रहा है और दृष्टि किधर है? उसमें भेद है। जो कर रहा उस पर दृष्टि नही है। मनुष्य भी जब चलता है तो जिस जमीन पर पैर रखता है उस जमीन को देखकर नही चलता है, अगर उतनी जगह को देखकर चले तो चल नही सकता है, गिर पड़ेगा। उसकी दृष्टि प्रकृत्या चार हाथ आगे रहती है। पैर जिस जगह रखा जा रहा है उस जगह को देखकर कौन पैर रखता है? क्रिया होती है, दृष्टि उससे आगे की रहती है। केवल क्रियावों पर ही दृष्टि रहे तो उसका मार्ग रूक जायगा, आगे बढ़ ही नही सकता है। यो यह ज्ञानी प्रत्येक क्रियावों में अपने अंतः स्वरूप में मग्न रहने का यत्न करता है।

ज्ञानियों की अलौकिकी वृत्ति—जिसने अपने आत्मतत्त्व को स्थिर किया है उसके ही ऐसी अलौकिक वृत्ति होती है। ज्ञानी और अज्ञानी का प्रवर्तन परस्पर उल्टा है। जिसे ज्ञानी चाहता है उसे अज्ञानी नही चाहता, जिसे अज्ञानी चाहता है उसे ज्ञानी नही चाहता। साधु संत ऐसे ढंग का कमण्डल रखते हैं कि किसी असंयमी को चुराने तक का भी भाव न हो सके, और की तो बात जाने दो। यह ज्ञानी अज्ञानियों से कितना उल्टा चल रहा है? दुनिया चटक मटक का बर्तन रखती है ओर वे साधु एक काठ का कमंडल रखते हैं, और मौका पड़ जाय तो कुछ समय के लिए वन में पड़ी अस्वाभिक मिट्टी का बर्तन या तूमड़ी आदि का वे प्रयोग कर लेते हैं, असंयमी जन पलंग गद्दा तकियों पर लेटने का यत्न करते हैं, ज्ञानी जन जमीन में ही लोटते हैं कभी कोई परिस्थिति आए तो वे कुछ तृण सोध बिछाकर लेट रहते हैं, कितनी परस्पर में उल्टी परिणति है। जो लोक न कर सके वह किया जाय उसका नाम है अलोक की वृत्ति। ऐसे अलौकिक निज परमार्थ कार्यों में दृष्टि होने पर भी कितनी ही परिस्थितियाँ ऐसी होती है कि वे अन्य विषयक कार्य भी करते हैं किन्तु वे कार्य करते हुए भी न करते हुए की तरह है।

वर्तमान संग में ज्ञानी की अनास्था पर एक दृष्टान्त—एक अमीर पुरुष रोगी हो जाय तो उसके आराम के कितने साधन जुटाए जाते हैं, अच्छा हवादार और मनः प्रिय कमरे में आसन बिछाना, कोमल पलंग गद्दे रोज-रोज कपड़े धुलकर बिछाए जाएँ, दो चार मित्र जन उसका दिल बहलाने के लिए उपस्थित रहा करे, समय-समय पर डाक्टर वैद्य लोग आकर उसकी सेवा किया करे, एक दो नौकर और बढ़ा दिया जाये, कितने साधन है इतने आराम के साधन होने पर भी क्या रोगी यह चाहता है कि ऐसा ही पलंग मेरे पड़ने को रात दिन मिला करे, ऐसा ही आराम रोज-रोज मुझे मिलता रहे? जब कोई पुरुष बीमार हो जाता है तो उसकी खबर लेने वाले लोग अधिक हो जाते हैं, हट्टे कट्टे मे कोई ज्यादा प्रिय बातें नही बोलते। बीमार हो जाने पर रिश्तेदार, मित्रजन कुटुम्बीजन बहुत प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हैं। इतना आराम होने पर भी रोगी पुरुष तो यह चाहता है कि मैं कब इस खटिया को छोड़कर दो मील पैदल चलने लगूँ। यो ही ज्ञानी वर्तमान संग में आस्था नही रखता है।

ज्ञानी की प्रवृत्ति के प्रयोजन पर एक दृष्टान्त—यह रोगी दवाई भी सेवन करता है और दवाई समय पर न मिले तो दवाई देने वाले पर झुंझला भी जाता है, दवा क्यों देर से लाये? बड़ा प्रेम वह दवाई से दिखाता है, उस औषधि को वह मेरी दवा, मेरी दवा—ऐसा भी कहता जाता है, उसको अच्छी तरह से सेवता है, फिर भी क्या वह अंतरंग में यह चाहता है कि ऐसी औषधि मुझे जीवनभर खाने को मिलती रहे? वह औषधि को औषधि न खाना पडें इसलिए खाता है, औषधि खाते रहने के लिए औषधि नही खाता। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने-अपने पद के योग्य विषयसाधन भी करे, पूजन करे, अन्य-अन्य भी विषयों के साधन बनाएँ तो वहाँ पर ये ज्ञानी विषयों के लिए विषयों का सेवन नही करते, किन्तु इन विषयों से शीघ्र मुझे छुट्टी मिले इसके लिए विषयों का

सेवन करते हैं। ज्ञानी की इस लीला को अज्ञानी जन नही जान सकते। ज्ञानी की होड़ के लिए अज्ञानी भी यदि ऐसा कहे तो उसकी यह कोरी बकवाद है।

कर्मबन्ध का कारण—कर्मबंध आशय से होता है। डाक्टर लोग रोगी की चिकित्सा करते हैं, आपरेशन भी करते हैं और उस प्रसंग में कोई रोगी कदाचित् गुजर जाय तो उसे कोई हत्यारा नही कहता है, और न सरकार ही हत्यारा करार कर देती है आशय उसका हत्यारा का नही था, और एक शिकारी शस्त्र बंदूक लिए हुए बन में किसी पशु पक्षी की हत्या करने जाय, और न भी वह हत्या कर सके तो भी उस सशस्त्र पुरुष को लोग हत्यारा कहते हैं, सरकार भी उसे हत्यारा करार कर देती है। आशय से कर्मबंध है, ज्ञानी जीव को अपने किसी भी परिणमन में आसक्ति नही है, अहंकार नही है। पर्यायबुद्धि सबसे बड़ा अपराध है। जो अपने किसी भी वर्तमान परिणमन में 'यह मैं हूं' ऐसा भाव रखता है उस पुरुष के कर्मबंध होता है, और जो विरक्त रहा करता है उसके कर्मबंध नही होता है।

सारभूत शिक्षा—पूज्य श्री कुन्दकुन्द प्रभु ने समयसार में बताया है और अनेक अध्यात्म योगियों ने अपने ग्रन्थों में बताया है। जो जीव रागी होता है वह कर्मो से बँधता है, जो जीव रागी नही होता है वह कर्मों से छूटता है, इतना जिनागम के सार का संक्षेप है। जिन्हें संसार संकटों से मुक्त होने की अभिलाषा हे उन्हें चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ को भिन्न और मायामय जानकर उनमें राग को त्याग दे। उनमें रुचिकर करने का फल केवल क्लेश ही है और विनाशीक चीज में ममता बना लेना यह बालकों जैसा करतब है। किसी पानी भरी थाली में रात के समय चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो तो बालक उस प्रतिबिम्ब को उठाकर अपनी जेब में रखना चाहता है, पर ऐसा होता कहाँ है। तब वह दुःखी होता है।

पर की हठ का क्लेश—एक बालक ने ऐसा हठ किया कि हमें तो हाथी चाहिए तो बाप न पास के किसी बड़े घर के पुरुष से निवेदन करके हाथी घर के सामने बुला लिया। अब लड़के के सामने हाथी तो आ गया, पर वह हठ कर गया कि मुझे तो यह हाथी खरीद दो। तो उसके घर के बाड़े में वह हाथी खड़ा करवा दिया और कहा, लो बेटा यह हाथी तुम्हें खरीद दिया है, इतने पर भी वह राजी न हुआ, बोला कि इस हाथी को हमारी जेब मे धर दो । अब बतावो हाथी को कौन जेब में धर देगा? जो बात हो नही सकती उस बात पर हठ की जाय तो उसका फल केवल क्लेश ही है। जो बात हो सकती है, जो बात होने योग्य हो, जिस बात के होने में अपनी भलाई हो उस घटना से प्रीति करना यह तो हितकर बात है, पर अनहोनी को होनी बनाने की हठ सुखदायी नही होती है। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपको जैसा चाहें बना सकते हैं, इस निर्णय के कारण अपने पर ही प्रयोग करते हैं। किसी परवस्तु में किसी प्रकार की हठ नही करते हैं। इस कारण ये अध्यात्मयोगी सदा अंतः प्रसन्न रहा करते हैं।

श्लोक 42

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।

स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः।।४२।।

एकान्त अन्तस्तत्त्व की उपलब्धि—कुछ पूर्व के श्लोकों में यह दर्शाया था कि जो लोक में उत्तम तत्त्व है, सारभूत वस्तु हे वह निज एकान्त में ही प्रकट होती है। निज एकान्त का अर्थ है जिस चित्त में रागद्वेष का क्षोभ नही है। ऐसे सर्व विविक्त एक इस धर्मी आत्मा में ही उस तत्त्व का उद्भव होता है। जो लोक में सर्वोत्तम और शरणभूत है अपने आप में ही वह तत्त्व है जिसके दर्शन होने पर संसार के समस्त संकट टल जाते हैं। एक इस अंतस्तत्त्व के मिले बिना चाहे कितनी ही सम्पदा का संचय हो जाय किन्तु संसार के संकट दूर नही हो सकते हैं जिसको बाह्य पदार्थों की चाह है उस पर ही संकट है और जिसे किसी प्रकार की वाञ्छा नही है वहाँ कोई संकट नही है।

ज्ञानी के अन्तरंग में साहस—ज्ञानी पुरुष में इतना महान साहस होता है कि कैसी भी परिस्थिति आए सर्व परिस्थितियों में मेरा कही भी रंच बिगाड़ नही है। अरे लोक विभूति के कम होने से अथवा न होने से इन मायामय पुरुषों ने तो कुछ सम्मान न किया, अथवा कुछ निन्दा भरी बात कह दी तो इसमें मेरा क्या नुक्सान हो गया? मैं तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप तत्त्व हूं, ऐसा निर्णय करके ज्ञानी के अंतः में महान् साहस होता है। जिस तत्त्व के दर्शन में यह साहस और संकटो का विनाश हो जाता है, उस तत्त्व के दर्शन के लिए, उस तत्त्व के अभ्यास के लिए अनुरोध किया गया था।

विषयों की अरुचिकर व स्वसंवेदन—ज्यों-ज्यों यह ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व अपने उपयोग में समाता जाता है त्यों-त्यों स्थिति होती है कि ये सुलभ भी विषय उसको रुचिकर नही होते हैं, और विषयों का अरुचिकर होना और ज्ञानप्रकाश का बढ़ना—इन दोनों में होड़ लग जाती है। यह वैराग्य भी इस ज्ञान से आगे-आगे बढ़ता है और यह ज्ञान वैराग्य के आगे-आगे बढ़ता है। इस अभीष्ट होड़ के कारण इस योगी के उपयोग में यह सारा जगत इन्द्रजाल की तरह शांत हो जाता है। ये केवल एक आत्मलाभ की इच्छा रहती है, अन्यत्र उसे पछतावा होता है, ऐसी लगन जिसे लगी हो मोक्षमार्ग उसे मिलता है। केवल बातों से गपोड़ों से शान्ति तो नही मिल सकती है। कोई एक बाबू साहब मानो बम्बई जा रहे थे। तो पड़ौसी सेठानी, बहुवें आ आकर बाबूजी से कहती है कि हमारे मुन्ना को एक खेलने का जहाज ला देना, कोई कहती है कि हमारे मुन्ना को खेलने की रेलगाड़ी ला देना। बहुतों ने बहुत बातें कही। एक गरीब बुढ़िया आयी दो पैसे लेकर। बाबूजी को पैसे देकर बोली कि दो पैसा का मेरे मुन्ने को खेलने का मिट्टी का खिलौना ला देना। तो बाबू जी कहते हैं कि बुढ़िया मां मुन्ना तेरा ही खिलौना खेलेगा, और तो सब गप्पें करके चली गयी। तो ऐसे ही जो शान्ति का मार्ग है उस मार्ग में गुप्त

रहकर कुछ बढ़ता जाय तो उसको ही शान्ति प्राप्ति होगी, केवल बातों से तो नही। चित्त में कीर्ति और यश की वाञ्छा हो, बड़ा धनी होने की वाञ्छा हो, अचेतन असार तत्वों मे उपयोग रम रहा हो वहाँ शान्ति का दर्शन नही हो सकता है।

अन्तस्तत्त्व के लाभ की स्पृहा—यह योगी केवल एक आत्मालाभ में ही स्पृहा रखता है, यह एकांत आत्मतत्त्व को चाहता है और बाह्य में एकांत स्थान को चाहता है। यहाँ कुछ भी बाह्य प्रयोग क्रियाकाण्ड बोलचाल आना जाना कुछ भी नही चाहता है। उसने अपने उपयोग में आत्मतत्त्व को स्थिर किया है, ऐसे योगी की कहानी आज इस श्लोक में कही जा रही है कि वे योगी अंतरंग में क्या किया करते है?

ज्ञानी की कृति की जिज्ञासा—यहाँ जीवों को करने-करने की आदत पड़ी है इसलिए यह ज्ञानी में भी करनेका ज्ञान करना चाहता है कि ये योगी क्या किया करते हैं इसका समाधान करने से पहिले थोड़ा यह बतायें कि यह अध्यात्मयोगी संत जो इस तत्त्व के अभ्यास में उद्यत हुआ है इस योगाभास में प्राक् पदवी में क्या-क्या निर्णय अपने समय में बनाया था? जिस आत्मतत्त्व की उसे लगन लगी है वह आत्मतत्त्व क्या है? वह आत्मतत्त्व रागद्वेष आदिक वासनावों से रहित केवल जाननहार रहनेरूप जो ज्ञानप्रकाश है यह आत्मतत्त्व है। यह ज्ञान प्रकाशरूप आत्मतत्त्व निर्विकल्प निराकुल निर्बाध है जिसमें कोई प्रकार का संकट नही है ऐसा शुद्ध प्रकाश है। यह प्रकाश इस आत्मा में ही अभिन्न रूप से प्रकट हुआ है। इसका स्वामी कोई दूसरा नही है और न इसका प्रकाश किसी दूसरे के आधीन है। यह तत्त्व इस आत्मा में ही प्रकट हुआ, ऐसे उस ज्ञानामृत का बहुत-बहुत उपयोग लगाकर योगी पान किया करता था। इसके फल में अब पूर्ण अभ्यस्त हुआ है। अब ये योगी क्या किया करता है उसके संबंध में जिज्ञासु का प्रश्न है।

कर्तृत्वबुद्धि का रोग—करना, करना यही तो एक संसार का रोग है। यह जिज्ञासु रोग की बात पूछ रहा है कि इस समय कौनसा रोग है, अर्थात यह क्या करता है, जगत के जीव करने के रोग में दुःखी है। सब बीमार है, कौनसी बीमारी लगी है? सबको निरखो किसी भी गाँव नगर शहर में नम्बर १ के घर से लेकर अंत के नम्बर के घर तक देख आवो, सभी कुछ न कुछ बीमार हो रहे हैं, कुछ न कुछ करनेका संकल्प बना हुआ है। ये करने के आशय की बीमारी का दुःख भागते जा रहे हैं। क्या उस ही रोग की बात को यह जिज्ञासु पूछ रहा है? कोई एक रूई धुनने वाला था। वह विदेश किसी कारण गया था। वहां से पानी के जहाज से आ रहा था। तो उस जहाज में मुसाफिर एक ही कोई था और एक यह स्वयं, किन्तु सारे जहाज में रूई लदी हुई थी। हजारों मन रूई देखकर उस धुनिया के दिल में बड़ी चोट पहुंची। हाय यह सारी रूई हमको ही धुननी पड़ेगी। बस उसके सिर दर्द शुरू हो गया, घर पहुंचते-पहुंचते तेज बुखार हो गया, कराहने लगा। डाक्टर आए, पर वहां कोई बीमारी हो तो वह ठीक हो। वह तो मानसिक कल्पना का रोग था। एक चतुर वैद्य आया, उसने पूछा—बाबा जी कहां से तुम बीमार हुए? बोला हम विदेश से पानी के जहाज से आ रहे थे, बस वही रास्ते मे बीमार

हो गए।.... अच्छा उसमें कौन-कौन था?.... था तो कोई नही (बड़ी गहरी सांस लेकर कहा) बोला—एक ही मुसाफिर था, मगर उसमे हजारों मन रूई लदी हुई थी। उसकी आह भरी आवाज को सुनकर वह सब जान गया। बोला—अरे तुम उस जहाज से आए, वह तो आगे किसी बंदरगाह पर पहुंचकर आग लग जाने से जलकर भस्म हो गया। जहाज और रूई सब कुछ खत्म हो गया। इतनी बात सुनते ही वह चंगा हो गया। तो सब करने के रोग के बीमार है।

कर्तृत्वबुद्धि के रोग की चिकित्सा की चर्चा—भैया ! कर्तृत्वबुद्धि के रोग से पैर एक जगह नही थम जाते हैं, चित्त एक जगह नही लग पाता है, जगत के जीव में पक्षपात मच गया है, यह मेरा है, यह गैर है, ये कितनी प्रकार की बीमारियां उत्पन्न हो गई है। इन सबका कारण कर्तृत्व का आशय है। मैं करता हूं तो यह होता है, मैं न करूँ तो कैसे होगा? यह नही विदित है कि यदि हम ने करेंगे तो ये पदार्थ अपने परिणमते रहने के द्रव्यत्व को त्याग देंगे क्या? खैर जिज्ञासु को अधिकार है कैसा भी प्रश्न पूछे। उस प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है कि यह योगी तो अपने उपयोग को जोड़ रहा है और कुछ नही कर रहा हे। तो जिज्ञासु मानो पुनः पूछता है कि क्या वह योगी अपने बारे में सूनसान है, कुछ अपने आपका चिन्तन और भान ही नही कर रहा है क्या? उत्तर इसी का दिया गया है पूर्व पाद में कि यह अनुभव में आने वाला तत्त्व क्या है, कैसा है, किसका है, कहाँ से आया, कहाँ पर है, इस प्रकार का कोई भी विकल्प वहाँ नही मच रहा है, और इसी कारण वह अपने देह को भी नही जान रहा है।

अनात्मतत्त्व के परिज्ञान की अनपेक्षा—जिस पुरुष को भेदविज्ञान का उपयोग हो रहा है वह जिससे अपने को भिन्न करता है उस हेय तत्त्व को फिर भी जानता तो है भेदविज्ञान अध्यात्ममार्ग में पहुंचने की सीढ़ी है जो लोकव्यवहार में चतुर होते हैं वे यह कहते हैं कि अपने खिलाफ यदि किसी ने कुछ कह दिया या कुछ छपा दिया उसका यदि कुछ प्रत्युत्तर दे तो इसका कोई अर्थ यह है कि उसने उस निन्दा करनेका महत्त्व आंका और लोग यह समझेंगे कि कोई बात है तब तो इसे उत्तर देना पड़ा। बुद्धिमान पुरुष उसकी और दृष्टि भी नही करते हैं। यह मैं शरीर से न्यारा हूं, ऐसा सोचते हुए यदि शरीर तक ज्ञान में आए, अथवा कोई परद्रव्य ज्ञान में आए तो यह उन्नति की चीज नही है। मैं शरीर से न्यारा हूं। जिससे न्यारा तुम अपने को सोचते हो उनकी वखत तो हमने पहिले कर ली है। यह अध्यात्म मार्ग में चलाने वाले के प्राक्पदवी की बात कही जा रही है। होता सबके ऐसा है जो शान्ति के मार्ग में बढ़ते हैं। भेदविज्ञान उनके अनिवार्य है, लेकिन भेदविज्ञान की करते रहना, जपते रहना इतना ही कर्तव्य है क्या? नही। इससे आगे अभेद उपासना का कर्तव्य है जहाँ यह ही प्रतीत न हो रहा हो, विकल्प ही न मचता हो कि यह देह है, ये कर्म है, ये विभाव है, इनसे मुझे न्यारा होना चाहिए।

उपयोग में परवस्तु का अमूल्य—कोई धर्मात्मा श्रावक और श्राविका थे। दोनों किसी गाँव को जा रहे थे। आगे पुरुष था, पीछे स्त्री थी। पुरुष आध फलांग आगे चल रहा था, उसे रास्ते में धूल भरी सड़क पर अशर्फियों

का एक ढेर दिखा, किसी की गिर गई होगी। उसे देखकर वह पुरुष यो सोचता है कि इसे धूल से ढक दे। यदि स्त्री को यह दिख जायगा तो, कही लालच न आ जाय, सो उस अशर्फियों को धूल से ढांकने लगा। इतने मे स्त्री आ गयी, बोली यह क्या कर रहे हो? तो पुरुष बोला कि मैं इन अशर्फियों को धूल से ढांक रहा हूं। क्यों? इसलिए कि कही तुम्हारे चित्त में इनको देखकर लालच न आ जाय? स्त्री बोली—अरे तुम भी बड़ी मूढ़ता का काम कर रहे हो, इस धूल पर धूल क्यों डाल रहे हो। उस स्त्री के चित्त में वह धन धूल था, उस पुरुष के उपयोग में अशर्फी है और स्त्री के चित्त मे धूल है तो इसमें तो स्त्री का वैराग्य बड़ा हुआ।

विकल्प से अभीष्ट की हानि—भेदविज्ञान में, जिससे अपने आपको पृथक करने की बात कही जा रही है, वहाँ दो चीजें सामने है, किन्तु अध्यात्मयोगी को यह गरज नही है कि मेरी निगाह में किसी भी रूप में विरोधी तत्त्व याने परतत्त्व बना रहे। इस योगी के देह की बात तो दूर जाने दो, जिस ज्ञानमय तत्त्व का अनुभवकर रहा है उस तत्त्व के सम्बंध में भी यह क्या है, कैसा है, कहाँ से आया है, इतना भी विकल्प नही कर रहा है। विकल्प करने से आनन्द में कमी आ जाती है। जैसे आपने कोई बढ़िया मिठाई खायी, मान लो हलुवा खाया ते उसके सम्बंध में यदि यह ख्याल आए कि यह ऐसे बना है, इतना घी पडा है, इतना मैदा पड़ा है, ऐसी बातों का ख्याल भी करता जाय और खाता भी जाय तो उसके खानें मे आनन्द में कमी हो जायगी। बड़ी मेहनत से बनाया है तो चुपचाप एक तान होकर उसका स्वाद ले, बातें मत करे, बातें करने से उसके आनन्द में कमी हो जायगी। बड़े योगाभ्यास से, जीवनभर के ज्ञानार्जन की साधना से, पुरुषों की निष्कपट सेवा से यह तत्त्वज्ञान इसने पाया है और आज यह निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व अनुभव में आ रहा है, आने दो, अब उसके सम्बंध में कुछ विकल्प भी न करो, विकल्प करोगे तो आता हुआ यह अनुभव हट जायगा।

विकल्पों का उत्तरोत्तर शमन—यह योगी अपने अध्यात्मयोग में परायण होता हुआ, किसी भी प्रकार का विकल्प न करता हुआ, अपने देह को भी नही जान रहा है। इस जीव के कल्याणमार्ग में पहिले तो औपचारिक व्यवहार का आलम्बन होता है। जब बचपन था तो यह मां के साथ मंदिर में आकर जैसे मां सिर झुका दे वैसे ही सिर झुका देता था, उसे तब कुछ भी बोध न था। जब कुछ बड़ा हुआ, अक्षराभ्यास किया, सत्संग किया, ज्ञान की बात सुनने में आयी, अब कुछ-कुछ ज्ञानतत्त्व की और बढ़ने लगा। अब इसे वस्तुस्वरूप का प्रतिबोध हुआ, भेदविज्ञान जगा। इसके पश्चात् जब इस ध्याता योगी के अपने आपमें अभेद ज्ञानानुभूति होती है तब उसके विकल्प समाप्त होते हैं। इससे पहिले विकल्प हुआ करते थे, जैसे-जैसे उसकी उन्नति होती गई विकल्पों का रूपक भी बदलता गया, पर समस्त विकल्प शान्त हुए तो इस ज्ञानतत्त्व में शान्त हुए।

ज्ञानभाव की अभिरसमयता व परभावभिन्नता—जानने वाला यह ज्ञान इस ही जानने वाले ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान करने लगे तब दूसरे वस्तु के छोड़ने को अवकाश कहाँ रहा? ज्ञान ही जानने वाला और ज्ञान ही जानने में आ रहा है तब वहाँ तीसरे की चर्चा कहाँ रही? ऐसी ज्ञानानुभूति में किसी भी प्रकार का विकल्प उदित नहीं

होता है, वह तो निज शुद्ध आनन्द रसका पान किया करता है। वहाँ ऐसे स्वभाव का अनुभव हो रहा है जिसको कहाँ से शुरू करके बताएँ? शुरू बात किसी भी तत्त्व की होगी बताने में, तो पर का नाम लेकर ही हो सकेगा। जिस ज्ञानतत्त्व के अनुभव में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है वह तत्त्व परभावों से भिन्न है, परपदार्थों से और परपदार्थों के निमित्त से जायमान रागादिक भावों से भिन्न है।

आत्मतत्त्व की परिपूर्णता—भैया ! यहाँ उस अनुभव में आए हुए ज्ञान तत्त्व की बात कही जा रही है, पर से भिन्न पर भावों से भिन्न है, इसमें यह न समझना कि जितना जो कुछ हम टूटा फूटा ज्ञान किया करते हैं उन ज्ञानों को तो मना नहीं किया, परपदार्थों को मना किया और रागादिक भावों को मना किया। अरे वह आत्मतत्त्व परिपूर्ण है जिसका अनुभव किया जाना है। यह हमारा ज्ञान तो अधूरा है, यह नहीं है वह तत्त्व, जिसका अध्यात्मयोगी के अनुभव हो रहा है।

आत्मतत्त्व की आद्यन्तविमुक्तता—यह अन्तस्तत्त्व परभाव भिन्न है वह आपूर्ण है, इतने पर ये निर्णय मत कर बैठना कि जो पर नहीं है, परभाव नहीं है ओर पूरा है वह मेरा स्वरूप है। यो तो केवल ज्ञानादिक शुद्ध विकास भी मेरा स्वरूप बन जायेंगे। वे यद्यपि स्वरूप में एक तान हो जाते हैं और मेरे स्वरूप के शुद्ध विकास है, परन्तु केवलज्ञान आदिक विकास सादि है, क्या उनके पहिले मैं न था? स्वरूप का निर्णय तो यथार्थ होना चाहिए, सो यह भी साथ में जानना कि वह आदि अन्तरहित तत्त्व है जिसका आलम्बन लिया जा रहा है शुद्धनय में।

आत्मतत्त्व का एकत्व व निर्विकल्पत्व—गुरु ने शिष्य से पूछा—क्यों ठीक समझमें आ गया, यह शिष्य बोला—हाँ, वह पर से भिन्न है, परभाव से भिन्न है, परिपूर्ण है और शाश्वत है। ये ही तो है ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक गुण। योगी समझता है कि नहीं-नहीं अभी तुम अनुभव के मार्ग से बिछुड़े जा रहे हो, वह इन नाना शक्तियों के रूप में नहीं है, वह तो एक स्वरूप है। शिष्य कहता है कि अब पहिचाना है कि ब्रह्म एक है। तो गुरु कहता है कि ब्रह्म एक है ऐसा ध्यान तू बनायगा तो तूने अपना आश्रय छोड़ दिया है। तू कही परक्षेत्र में यह एक है ऐसा विकल्प मचायेगा, वहाँ भी इस ज्ञानतत्त्व का अनुभव नहीं है। समस्त विकल्पजालों को छोड़कर इस तत्त्व का तू अनुभवमात्र कर । इसके बारे में तू जीभ मत हिला। जहाँ कुछ भी जीभ हिलायी, प्रतिपादन करने को चला कि तेरा यह आनन्द रसज्ञानानुभव सब विघट जायगा।

नयपक्षातीत स्वरूपानुभव—यह योगी योग में परायण होता हुआ अपने देह तक को भी नहीं जान रहा है। वह तो परम एकाग्रता से अपने अकिञ्चन शुद्ध स्वरूप का ही अवलोकन कर रहा है। जो अपनी इच्छा से ही उछल रहे, जो अनेक विकल्पजाल तत्त्वज्ञान के सम्बन्धों भी हो रहे हैं, जिससे नय पक्ष की कक्षा बढ़ रही है उनका ही उल्लंघन करके निज सहजस्वरूप को देखता है, जो सर्वत्र समतारस से भरा हुआ है, उसे जो प्राप्त करता है वह योगी है, धर्ममय है। अपनी समस्त शक्तियों इधर उधर न फैलाकर अपने आपके सहज स्वभाव

में केन्द्रित करके अपने उपयोग को एक चिन्मात्र स्वभाव में स्थिर कर देता है वहाँ हेय और उपादेय का कोई भी विकल्प उत्पन्न नहीं होता है।

उपयोग की अन्तर्मुखता एवं आनन्द—जैसे यह उपयोग बाहर में जाया करता है वैसे ही इसको क्या अपने आपमें लाया नहीं जा सकता है? जो उपयोग बाहरी पदार्थों के जानने में सुभट बन रहा है वह क्या अपने आपके स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं हो सकता है? परपदार्थों में हित बुद्धि को छोड़कर अपने आपमें विश्राम लेकर अपने को जाने तो वहाँ वीतराग भाव का रसास्वादन हो सकेगा। योगी इसी परमतत्त्व का निरन्तर आनन्द भोगता रहता है।

श्लोक 43

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रति।

यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।।४३।।

उपयोगानुसारिणी वासना—जो जीव जहाँ रहता है उसकी वही प्रीति हो जाती है और जहाँ प्रीति हो जाती है वहाँ ही वह रमता है फिर वह अपने रम्य पद से अतिरिक्त अन्यत्र कही नहीं जाता है। आत्मा में एक चारित्रगुण है। वस्तुतः आत्मा में गुण भेद है नहीं, किन्तु आत्मा यथार्थ जैसा है उसका प्रतिबोध करने के लिए जो कुछ विशेषताएँ कही जाती है उनको ही भेद कहा करते हैं। वैसे तो किसी पदार्थ का नाम तक भी नहीं है। किसी का नाम लेकर बतावो, जो नाम लोगे वह किसी विशेषता का प्रतिपादन करने वाला होगा।

वस्तु के यथार्थ परिपूर्ण स्वरूप की अवक्तव्यता—भैया ! शुद्ध नाम किसी का है ही नहीं। व्यावहारिक चीजों का नाम लेकर बतावो आप कहेंगे चौकी। चौकी नाम है ही नहीं। जिसमें चार कोने होते हैं उसे चौकी कहते हैं यो इसकी विशेषता बतायी है, चौकी नाम नहीं है। घड़ा जो यंत्र में मशीन में घड़ा जाय उसका नाम घड़ा है। शुद्ध नाम नहीं है। शुद्ध नाम के मायने यह है कि उसमें विशेष का वर्णन करने वाला मर्म न हो। चटाई—चट आई सो चटाई। यह भी उसके गुण का नाम है, उसका नाम नहीं है। सब विशेषतावों के शब्द है। दरी—देर से आए तो दरी यह भी उसके गुण का नाम है उसका नाम नहीं है। किवार—किसी को वारे अर्थात् रोक दे उसका नाम किवार। यह भी शुद्ध नाम नहीं । क्षत—जिसको खूब पीटा जाय उसका नाम क्षत है, यह भी शुद्ध नाम नहीं है। जीव—जो प्राणों से जीवे सो जीव। यह भी शुद्ध नाम कहाँ रहा? आत्मा—जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम है आत्मा। कहाँ रहा उसका नाम विशेषता बतायी है। ब्रह्म—जो अपने गुणो को बढ़ाने की और रहा करे उसका नाम ब्रह्म है।

वस्तु की अभेदरूपता—वस्तु का गुणभेद नहीं है। प्रत्येक पदार्थ जिस स्वरूप का है उस ही स्वरूप है, लेकिन प्रतिबोध किया कराया तो जा सकता है। उसका प्रतिबोध व्यवहार से, भेदवाद से ही किया जा सकता है। व्यवहार ही अर्थ भेद है। जो किसी चीज का भेदकर दे उसका नाम व्यवहार है। तो आत्मा एकस्वभावी है, पर उसकी विशेषताएँ जब बतायी जाती है तो कहा जाता है कि यह जानता है इसमें ज्ञानगुण है। यह कही न कही रमता है, यह चारित्रगुण है। जीव में यह प्रकृति पड़ी है कि वह किसी न किसी और रमा करे। सिद्ध हो, परमात्मा हो, योगी हो, श्रावक हो, कीड़ा मकोड़ा हो, जो भी चेतन है उसमें यह परिणति है कि कही न कही रमा करे। अब जहाँ औपाधिकता लगी है वहाँ परभाव में लगेगा। जहाँ निरुपाधिता प्रकट होती है वहाँ शुद्ध स्वभाव में रमेगा, पर रमने की इसमें प्रकृति पड़ी है।

बहिर्मुखता का संकट—यह जीव अपने उपयोग से जहाँ रहता हुआ ठहरता है उसका उस ही में प्रेम हो जाता है। इस जीव पर सबसे बड़ी विपदा है बहिर्मुखता की। यह जीव अपने आनन्दधाम निज स्वरूप में विश्राम न लेकर बाह्य परतत्त्वों में, परपदार्थों में जो रुचि रखता है, परपदार्थों से मेरा हित है, बड़प्पन है ऐसी जो प्रतीति रखता है उसके जीव पर महासंकट है, परन्तु मोही प्राणी मोह में इस संकट को ही श्रृंगार समझते हैं। पागलपन इसी को ही तो कहते हे कि दुनिया तो हँसे ओर यह उस ही में राजी रहे। ज्ञानी जन तो हँसे, जो पागल नहीं है वे तो मजाक करें अर्थात् उन्हें हेय आचरण से देखें और एक पागल उस धुन में ही मस्त रहे। यहाँ जितने भी मोहमत्त जीव है वे सब उन्मत्त ही तो है। जो ज्ञानी पुरुष है, विवेकी है वे इसकी मोह बुद्धि पर हास्य करते हैं। कहाँ रम गया है, कहाँ भूल पड़ गयी है, और यह मोही पुरुष उन ही विषयों में रमता है। क्या करे यह मोही प्राणी जब उस निर्मोहता का आनन्द ही नहीं मिल सका, अपने आपमें ज्ञानका पुरुषार्थ हीन ही कर पा रहा है तो यह कही न कही तो रमेगा ही। रमेगा विषयों में तो वह विषयों में ही प्रीति रखेगा। और उन विषयों के सिवाय अन्य जगह जायगा नहीं। इसे ज्ञान ध्यान तप आदि शुभ प्रसंग भी नहीं सूझेंगे।

धर्मपालन की निष्पक्ष पद्धति—आत्मा का हित, आत्मा का धर्म, जिसको पालन करने से नियम से शान्ति प्राप्त होगी वह धर्म कही बाहर न मिलेगा। कोई निष्पक्ष बुद्धि से एक शान्ति का ही उद्देश्य ले-ले और विशुद्ध धर्मपालन करने की ठान ले तो वह सब कुछ अपने ज्ञानस्वरूप का निर्णय कर सकता है। कभी यह धोखा हो कि सभी लोग अपने-अपने मजहब की गाते हैं, कहाँ जाकर हम धर्म की बात सीखे? जिस कुल में जो उत्पन्न हुआ है वह उस ही धर्म की गाता है। जो जिस कुल में, धर्म में उत्पन्न हुआ वह रूढ़ि वश उसी धर्म और कुल की गाता है पर कहाँ है धर्म, किस उपाय से शान्ति का मार्ग मिल सकेगा? संदेह हो गया हो और संदेह लायक बात भी है। अपने-अपने पक्ष की ही सब गाते हैं, संदेह होना किसी हद तक उचित ही है। ऐसी स्थिति में एक काम करे। जिस कुल में, जिस धर्म में आप उत्पन्न हुए है उसकी भी बात कुछ मत सोचे, जो कोई दूसरे धर्म की बात सुनाता हो उनको भी मत सुने। पर इतनी ईमानदारी अवश्य रक्खे, इतना निर्णय कर ले कि इस लोक

में जो समागम मिले हैं धन वैभव, स्वजन, मित्रजन, ये सब भिन्न है और असार है, इतना निर्णय तो पूर्ण कर ले। इसमें किसी मजहब की बात नहीं आयी, यह तो एक देखी और अनुभव की हुई बात है।

उदासीनता में अन्तस्तत्त्व का सुगम दर्शन—धन, कुटुम्ब, घर, इज्ज़त, ये सब चीजें चंद दिनों की बातें है, मायामयी है। सदा रहना नहीं है, मरने पर ये साथ निभाते नहीं है और जीवों के भी ऐसे अनुभव हे कि जो कुछ मिला है वह सिद्धि करने वाला नहीं है। इन सब अनुभवों के आधार पर इतना निर्णय कर लें कि समस्त परपदार्थ मेरे हितरूप नहीं है, न्यारे है, उनका परिणमन मुझमें हो ही नहीं पाता। ऐसा निर्णय करने के बाद किसी भी धर्म, किसी भी पक्ष मजहब की बात न सुनकर बस आराम से कुछ क्षण के लिए बैठ जाएँ। कुछ नहीं किसी की सुनना है, सब अपनी-अपनी गाते हैं। हम कहाँ सचाई ढूँढने के लिए दिमाग लगाएँ? इस कारण समस्त पर को उपयोग से हटाकर विश्राम पाये तो परमतत्त्व स्वयं दृष्ट हो जायगा।

दुर्लभ अल्प जीवन का सदुपयोग—भैया ! जीवन थोड़ा है, कुछ वर्षों की जिन्दगी है। हम बड़े-बड़े शास्त्रसिद्धान्तों को जाने तो १०-५ वर्ष तो भाषा सीखने में ही लगेंगे, और फिर एक से एक बड़े धुरन्धर शब्द शास्त्र के विद्वान पड़े है। उनमें भी कोई कुछ अर्थ लगाते हैं, कोई कुछ अर्थ लगाते हैं, कोई कुछ। तो हमें किसी की नहीं सुनना है, किसी की नहीं मानना है, परम विश्राम से बैठे, ईमानदारी में रंच भी बाधा मत डालें। समस्त परद्रव्य भिन्न है, कोई मेरा अहित नहीं कर सकते। इस निर्णय को रंच भी न भूलें। यदि किसी परपदार्थ में हितबुद्धि की तो अपने आपके बल से धर्म का पता लगाने का कोरा ढोंग ही हैं। इतना निर्णय हो तब अपने आप स्वयं के विश्राम से स्वयं में वह ज्ञानज्योति प्रकट होगी जो निष्पक्ष सब समाधानों को हल कर देगी।

ज्ञानमय की अनुभूति में आनन्दविकास—न होता यह मैं ज्ञानमय तो जान कहाँ से लेता? जो पदार्थ ज्ञानमय नहीं है वह कदाचित् जान ही नहीं सकता है। ऐसा कोई भी उदाहरण दो कि अमुक पदार्थ ह तो ज्ञानरहित, पर जान रहा है। नहीं उदाहरण दे सकते। जो ज्ञानमय है, ज्ञानघन है वही जाननहार बन सकता है। यह मैं आत्मा ज्ञानमय हूं और ज्ञान करना है यथार्थ धर्म का। तो जिसके जानने का स्वभाव है वह जानेगा ही, वही बात जो यथार्थ है, हाँ रागद्वेष मोह का पुट होगा, श्रद्धा विपरीत होगी तो यह ज्ञानकला विफल हो जायगी पर श्रद्धा यर्थाथ हो, परपदार्थों से अलगाव हो तो यह ज्ञान सही काम करेगा, तब अपने आपके ज्ञान द्वारा ही यह ज्ञानस्वरूप का अभ्यास करने लगेगा, और उस स्थिति में अद्भूत आनन्द प्रकट होगा।

मनोविनय से आनन्द का उद्यम—जो आनन्द ज्ञानानुभूति में होता है वह आनन्द भोजन पान की समृद्धि में नहीं मिलता, क्योंकि उस प्रसंग में विकल्पजाल निरंतर बने रहते हैं। एक ग्रास मुँह में से नीचे गया, झट दूसरे ग्रास की कल्पना हो उठती है, यह कल्पनावों की मशीन बहुत तेजी से चलती रहती है। एक क्षण में ही कितनी ही कल्पनाएँ कर डालते हैं और यह उपयोग कितनी जगह दौड़ आता है, बडी तीव्र गति है इस मन की। इस

मनका नाम किसी ने अश्व रक्खा है। अश्व उसे कहते हैं जो आशु गमन करे, जो शीघ्र गमन करे। नाम किसी का कही नहीं है। इस मनका नाम अश्व है। किसी जमाने में लोगों ने अलंकार में मनोविजय का नाम अश्वमेघ यज्ञ रख दिया होगा, इस मन को वश में करके जहाँ एक आध क्षण विश्राम लिया जाता है तो उसे बड़ा अद्भुत आनन्द प्रकट होता है। बस उसमें सब निर्णय हो जाता है कि हमको क्या करना है? शान्ति के लिए बस ज्ञाताद्रष्टा रहना, रागद्वेष रहित बनना, यही एक धर्म का पालन है।

ज्ञानियों का आराध्य—भैया ! अब सुनिये व्यवहार की बात। हम किसे पूजे, किसे माने? अरे जो अपूर्व ज्ञानप्रकाश और शुद्ध आनन्द का अनुभव किया था, यह तो करना है ना, यही तो धर्म है ना, यह बात जहाँ सातिशय प्रकट हो वही इसका आराध्य हुआ, कहाँ झंझट रहा, नाम पर दृष्टि मत दो, स्वरूप पर दृष्टि दो। नाम के लिए चाहे जिन कहो, चाहे शिव कहो, ईश्वर कहो, ब्रह्मा कहो, विष्णु बुद्ध, हरि, हर इत्यादि कुछ भी कहो, ये सब स्वरूप के नाम है। स्वरूप जहाँ सातिशय ज्ञान और सातिशय आनन्द को पाये वही हमारा आदर्श है। हमें क्या चाहिए? वही जो अभी अनुभवन में लाया था। परपदार्थ से दृष्टि हटाकर क्षणिक विश्राम लेकर जो हमने अनुभव किया था वही मुझे चाहिए। इतनी अध्यात्मदृष्टि न रहेगी तो बाहर में यह अनुभवी पुरुष उस ही स्वरूप की शरण जायगा जहाँ यह शुद्ध पूर्ण प्रकट हुआ है और शुद्ध आनन्द पूर्व विकसित हुआ है। बस नाम की दृष्टि तो छोड़ दो और स्वरूप को ग्रहण करलो।

व्यवहारभक्ति में आश्रय का प्रयोजन—व्यवहार में नाम का आश्रय इसलिए लिया जाता है कि हम कुछ जाने तो सही कि ऐसा भी कोई हो सका है क्या? या हम ही कोरी कल्पना बना रहे हैं, उसके निर्णय के लिए नाम लिया जाता है, ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, रामचंद्र, महावीर, हनुमान, लेते जावो नाम, जो-जो भी निर्वाण पद को प्राप्त हुए उनका नाम किस लिए लेते हैं, यह कर्म देखने के लिए कि हम ऐसा बन सकते हैं यह कोरी गप्प तो नहीं हे। ये-ये लोग निर्वाण को प्राप्त हुए है—ऐसा अपने में निर्णय बनाने के लिए नाम लिया जाता है, पर नाम में स्वरूप नहीं है, स्वरूप तो स्वरूप के आधार में है जो पुरुष इस स्वरूप में बसता है, अपने उपयोग को टिकाता है वह इस स्वरूप में ही प्रेम करेगा, वही-वही सर्वत्र उसे दिखेगा। कामी पुरुष को सर्वत्र कामिनी और रूप और ऐसे ही विषय दिखते हैं क्योंकि उसका उपयोग उसी में बस रहा है। तो योगियों को दर्शन सर्वत्र उस योग-योग का ही होता है।

आशय के अनुसार दर्शन—जो पुरुष ईमानदार है, सत्य बर्ताव और सत्य आशय रखता है उसे दूसरे जीव के प्रति यह छली है अथवा किसी को पीडा करने वाले विचार का है, इस प्रकार विश्वास नहीं होता है। सहज तो नहीं होता है। कोई घटना आ जाय ऐसी तब वह ख्याल करता है, ओह! यह ठीक कह रहा था, यह ऐसा ही है। जो धूर्त है, झूठा हे , दगाबाज है उसे और लोगो पर ये सच्चे है ऐसा विश्वास नहीं होता है। सहज नहीं होता। बहुत दिन रम जाय, रह जाय, घटनाएं घटे तो यह विश्वास करता है। जो जिस भाव में रहता हुआ

ठहरता है वह उस भाव में ही प्रीति करता है। विषयों में रमने वाले व्यामोही पुरुष की विषयों में ही प्रीति रहती है और विषयों से अतिरिक्त कोई धार्मिक प्रसंग मिल जाए तो वहाँ घबड़ाहट पैदा होती है। कभी-कभी पूजा और विषयों से अतिरिक्त कोई धार्मिक प्रसंग मिल जाय ता वहाँ घबडाहट पैदा होती है। कभी-कभी पूजा करने में, दर्शन करने में कितने उद्वेग रहते है? झट बोले, जल्दी करे, क्योंकि उपयोग दूसरी जगह रम रहा है। यहाँ मन नहीं लगता है और ज्ञानी जीवको व्यवसाय, दुकान, व्यवहार इनमें मन नहीं लगता है। यह जल्दी समय निकल जाय, दर्शन का, प्रवचन का, वाचन का, जल्दी छुट्टी मिले इसके लिए अज्ञानी अपनी तरस बनाता है। जो जहाँ रहता है उसको उसही में प्रीति होती है। यही देखा—जो मनुष्य जिस नगर में, जिस शहर में, जिस गाँव में रहता है उसका प्रेम वहाँ के मकान आदि से हो जाता है। जिस टूटे फूटे मकान में रह रहे हैं, उसकी एक-एक इंच भूमि और भींत ये सब कितने प्रिय लग रहे हैं, और पास ही में किसी की अट्टालिका खड़ी है तो उससे प्रीति नहीं रहती । यह सब उपयोग में बसने की बात प्रभाव है।

आत्मीय की प्रियता—किसी सेठ ने एक नई नौकरानी रक्खी, सेठानी का लड़का एक स्कूल में पढ़ता था, उस नौकरानी का लड़का भी उसी स्कूल में पढ़ता था। सेठानी रोज दोपहर को खाने को एक डिब्बे में कुछ सामान रखकर अपने लड़के को दे देती थी पर एक दिन देना भूल गयी। सो सेठानी ने नौकरानी से खाने का सामान लड़के को दे आने के लिए कहा। वह बोली कि मैं अभी तुम्हारे लड़के को नहीं पहिचानती तो सेठानी अभिमान में आकर बोली कि हमारे लड़के को क्या पहिचानना है? जो लड़का सब लड़कों में सुन्दर हो वही हमारा लड़का है। सम्भव है कि ऐसा ही रहा हो । वह नौकरानी वह सामान लेकर स्कूल पहुंची तो वहाँ उसे अपने लड़के से सुन्दर कोई लड़का न दिखा। सो उसने अपने ही बच्चे को सारी मिठाई खिला दी और घर वापिस आ गई। शाम को जब वह लड़का घर आया तो माँ से बोला कि आज तुमने हमें खाने को कुछ भी नहीं भेजा, सो माँ कहती है कि मैने नौकरानी के हाथ भेजा तो था। नौकरानी को बुलाकर पूछा कि हमारे बच्चे को खाने को सामान नहीं दिया था क्या ? तो नौकरानी बोली कि दिया तो था। तुमने ही तो कहा था कि स्कूल में जो सबसे अच्छा बच्चा हो, वही हमारा बच्चा है, सो मुझे तो सबसे अच्छा बच्चा मेरा ही दिखा तो उसी को मिठाई देकर मैं चली आयी। यही है सब मोहियों की दशा।

बाधक से मधुर भाषण बाधकता के विलय का कारण—अरे तुम ही हमारी शरण हो, तुम ही सबसे प्यारे हो, ऐसे दो चार शब्द ही तो बोल देना है, फिर तो जी जान लगाकर वह आपकी सेवा करेगा। कितनी मोह की विचित्र लीला है? इतने पर भी इतना नहीं किया जा सकता है कि मधुर शब्द बोल दे। मधुर वचन बोलने में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द मिलेगा, संकट न रहेंगे, लेकिन जिस पर मोह है उसके प्रति तो मधुर वचन बोले जा सकते हैं और जहाँ मोह नहीं है वहाँ मधुर वचन बोलना कुछ कठिन हो जाता है और जिन्हें अपने विषयसाधनों

में बाधक मान लिया उनके प्रति तो मधुर बोल-बोल ही नहीं सकेत। यदि उनसे भी मधुर वचन बोल ले तो बाधक बाधकता को त्यागकर साधक बन सकते हैं, पर इतना इस मोही पुरुष से नहीं हो पाता है।

अध्यात्मरमण का कारण—प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि जो जहाँ ठहरता है वह उस ही में प्रीति करता है, और उनमें ही सुख की कल्पना करके बार-बार भक्ति का यत्न करता है और आनन्दधाम जो निजस्वरूप है उसकी और झांक कर भी नहीं देखता है। लेकिन जब दृष्टि बदल जाती है, अध्यात्म में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब बाह्य पदार्थों से हटकर एक निज शुद्ध स्वरूप की और ही रति हो जाती है। तब चिन्तन और मनन के अभ्यास के बाद सहज शुद्ध आनन्द का अनुभव होने लगता है। अब उसे बाह्यपदार्थ रंच भी रुचिकर नहीं रहते हैं। क्या वजह है कि यह योगी अपने मे ही रम रहा है और बाहर में नहीं रमना चाहता? इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में दिया है। जिसे अपने स्वरूप में ही रति है वह वही रहकर आनन्द पाया करता है।

श्लोक 44

अगच्छंस्तद्विशेषेणामनभिज्ञश्च जायते।

अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते ।।४४।।

विशेषों के अनुपयोग से बन्धन का अभाव—जिस मनुष्य का उपयोग जिस विषय मे चिरकाल तक रहता है उसकी उस विषय में ही प्रीति हो जाती है, फिर वह पुरुष उस ही मे रमता है। उस विषय के सिवाय अन्य किसी भी जगह उसका चित्त नहीं जाता है। जब उसका चित किसी अन्य विषय में नहीं जाता है तो उन विषयों की विशेषतावों का भी वह अनभिज्ञ रहता है। विशेषताएँ क्या है यह वस्तु सुन्दर है, यह असुन्दर है, इष्ट है, अनिष्ट है, मेरा है, तेरा है आदि जो विशेषतावों की तरंगें है वे कहाँ से उठे? जब उस विषय के सम्बन्ध में उपयोग दिया ही नहीं जा रहा है तो वे विशेष कहाँ से उत्पन्न होगे। जब वे विशेष उत्पन्न नहीं हुए अर्थात् परपदार्थ के सम्बंध मे इष्ट अनिष्ट भावना न हुई तो यह जीव बँधता नहीं है बल्कि बाह्यसंयम होने के कारण मुक्त हो जाता है।

स्नेह का गुप्त, विलक्षण, दृढ़ बन्धन—लोक में भी देख लो, जिसको इष्ट माना उसी का बन्धन लग गया। आप सब यहाँ बैठे है, प्रदेशों में न घर बँधा है, न स्वजन परिजन बँधे है, सब पदार्थ अपने-अपने स्थान में है, लेकिन चित्त उनमें है, उनका स्नेह है तो आप घर छोड़कर नहीं जा सकते। यह बन्धन कहाँ से लग गया? न कोई रस्सी का बंधन है, न सांकल का बन्धन है, न कोई पकड़े हुए है। यह ही खुद स्नेह परिणमन से परिणमकर बँध जाता है। इस पदार्थ का विशेष ज्ञान न हो तो स्नेह क्यों होगा, चारुदत्त सेठ जब लोकव्यवहार की बातो से परे रहता था, उसकी निष्काम प्रवृत्ति थी विवाह हो जाने पर भी वह अपने केवल धर्मसाधना मे ही रहता था। तब परिवार ने चिंता की यह तो घर में रहते हुए भी विभक्त है, ऐसे कैसे घर चलेगा तो उपाय रचा। वह उपाय

क्या था, किसी से स्नेह का परिणमन तो आ जाय। न घर में सही, पर एक वह प्रगति तो बन जाय कि यह स्नेह करने लगे। उपाय ऐसा ही किया । वेश्या की गली में से उसका चाचा चारुदत्त को साथ लेकर गया। पहिले से ही प्रोग्राम था। सामने से कोई हाथी छुड़वाया गया। उससे कैसे बचें सो एक वेश्या के घर वे दोनों चले गए। जान तो बचाना था। वहाँ जाकर शतरंज आदि खिलवाया और जो-जो कुछ खटपट है उनमें भुलाया। यह चतुर था, यह भी खेल में शामिल हो गया। बस स्नेह का बंधन बँध गया। सबसे बडा़ बन्धन है स्नेह के बन्धन से जकड़ देना।

स्नेह बन्धन में विडम्बनायें—एक दोहा में कहते है—(हाले फूले वे फिरैं होत हमारो व्याव। तुलसी गाय बजाय के देत काठ में पाव ।।) केवल एक विवाह की बात नहीं है। किसी से किस ही प्रकार स्नेह का बन्धन हो जाय तो वह जीवन में शल्य की तरह दुःख देता है। परिचय हो गया ना अब। बोलचाल रहन-सहन सब होने से स्नेह बन गया। अब इस मोही की दृष्टि में जगत के अन्य जीव कुछ नहीं लगते और ये एक दो जीव इसके लिए सर्व कुछ है। घर का आदमी जिससे बन्धन है, बीमार पड़ जाए तो कर्जा लेकर भी उसका उपचार करता है। घर को तो सब लगा ही देगा और कदाचित् कोई पड़ौसी बीमार हो जाए तो कुछ भी लगा सके ऐसी हिम्मत भी नहीं कर पाता। कोई धर्मात्मा बीमार हो जाय तो उसके लिए कुछ भी नहीं है। यदि कुछ थोड़ा बहुत लगाया जाता तो लोकलाज से, पर जैसे भीतर से एक रुचि उत्पन्न होकर घर वाले की सेवा की जाती है इस प्रकार अंतरंग से रुचि उत्पन्न होकर किसी धर्मात्माजनों की सेवा की जा सके, ऐसा नहीं हो पाता है। ये सब मोह के नचाये हुए कहाँ-कहाँ क्या-क्या नाच नचाते है? रहना कुछ नहीं है साथ में। चंद दिनों की चाँदनी है, छोड़ना सब कुछ पड़ता है, पर उन ही चंद दिनों में ऐसी वासना बना लेते हैं कि भव-भव में क्लेश भोगने पड़ते हैं।

आत्मगुणानुराग में बाह्य का अनुपयोग—जो मनुष्य जिन पदार्थों के चिन्तन में तन्मय हो जाता है उसे तो उसमे गुण दिखते हे और उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ के गुण नहीं दिखते, न दोष दिखते, हित अहित किसी भी प्रकार से ज्ञान नहीं रहता, इसी कारण अन्य से सम्बन्ध नहीं रहता है। ज्ञानी पुरुष को ऐसे ज्ञानप्रकाश का अनुभव होता है कि उसका चित्त अब किसी भी बाह्य विषय प्रसंग में नहीं लगता । जैसे मोही जीव विवश है ज्ञान और वैराग्य में मन लगाने को, इसी प्रकार ज्ञानी जीव विवश है विषय प्रसंगो में चित्त लगाने की।

गुणों को आत्मवास देने की प्रभुता—एक काव्य में मानतुंग स्वामी ने कहा है कि हे भगवान ! आप में सब गुण समा गये। सारे गुणो ने आपका ही आश्रय लिया। सो हमें इसमें तो कुछ आश्चर्य नहीं लगता है। उन गुणों ने हम सब जीवो के पास वास करने के लिए आ आकर कहा कि हमें जरा स्थान दे दो, तो हम सबने उन गुणों को ललकारा। हटो जावो यहाँ से । वे सारे गुण क्या करे, झक मार कर आपके पास आ गए। हमें इसमें कोई अचरज नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि दोषों ने हम लोगों के पास आ आकर थोड़ी भी मिन्नत की कि थोड़े दिनों को हमको भी स्थान दे दो। तो हम सबने स्थान देने के लिए होड़ मचा दी। आवो सब दोष,

तुम्हारा ही तो घर है। खूब आराम से रहो, तुमसे ही तो हम मौज से रहते हैं। तुम्हारी ही वजह से तो हमारी बनती है। जब सब दोषों को हम लोगो ने स्थान दिया तो एक भी दोष आपके पास आ सके क्या? आप में एक भी दोष नहीं आ सके, क्योंकि सब दोषों को हम लोगो ने बड़ा स्थान दिया। उससे शिक्षा यह लेनी है कि स्थान तो हमारे दोष और गुणों को विराजने के योग्य है। अब हम ऐसा विवेक करें कि जिसको स्थान देने में शान्ति संतोष हो सकता हो उन्हें स्थान दे।

दोषवाद से लाभ का अभाव—भैया ! लोगो मे प्रकृति दूसरों की निन्दा करने की हो जाती है, उनके प्रति देखो—दूसरों की निन्दा कर करके वे कुछ मोटे हो गए या चारित्रवान हो गए, या कर्म काट लिए, बल्कि बात उल्टी हुई, दोषमय हो गये वे, क्योंकि दोषों में उपयोग लगाये बिना दोषों का कोई बखान कर नहीं सकता। जब दोषों में उपयोग लगाया तो उपयोग देने वाला सदोष हो गया। जब यह सदोष हो गया तो उससे उन्नति की कहाँ आशा की जा सकती है। कुछ अपनी प्रगति बनाएँ, जिन जीवों के दोष बखानने की रुचि है उनके तो कषायों से बढ़कर भी मोह का पाप समाया हुआ है। किसी का दोष खुद अपनी दृष्टि बुरी बनाए बिना बखान किया नहीं जा सकता है। यदि अपनी रक्षा रखने के लिए अथवा अपने परम स्नेही किसी बन्धु की रक्षा करने के लिए किसी के दोष बताने पड़े और उसे कठिन अवसर समझा जाय कि बताये बिना काम न चलेगा, नहीं तो हमारे ये मित्र जो हमारी धर्मसाधना में सहायक है इनको धोखा हो जायगा। वे अपनी व धर्म मित्र की सुरक्षा के लिए दोष बता सकते हैं, अमुक में ऐसा दोष है, उसके संग से लाभ न होगा, पर जिसकी प्रकृति ऐसी है कि कोई अवसर नहीं है, कोई बात नहीं फंसी है कि कहना ही पड़े और एक को नहीं अनेक को, जिस चाहे को, जो मिले उसी को दोष बखानने की प्रवृत्ति हो, यह कषायों के अभिप्राय बिना नहीं हो सकता। इससे उसको लाभ क्या मिला? कुछ नहीं। जिसमे लाभ मिले वह काम करने योग्य है। कुछ आत्मा का लाभ मिल जाता हो तो दोष ही बखानते रहे, पर लाभ दोष बखानने से नहीं मिलता, किन्तु अपने को गुणरत करने से मिलता है।

भली प्रतिक्रिया—यदि किसी के प्रति कुछ ईर्ष्या भी हो गई हो तो उसका बदला दोष बखानना नहीं है, किन्तु स्वयं गुणी हो जाय और धर्मात्मा बन जाय तो उससे बढ़कर यह स्वयं हो जायगा, यही भली प्रतिक्रिया है। किसी भी परवस्तु में दोष देखने की आदत अपने भले के लिए नहीं होती है, गुण देखने की आदत अपने भले के लिए होती है। जगत में सभी जीव है, सबमें दोष है, सबमें गुण है, पर उन दोष और गुणो में से गुणों पर दृष्टि न जाय, दोषों पर ही दृष्टि जाय तो ऐसी वृत्ति और भी अनेक छोटे मोटे कीड़े मकोड़ों में भी होती है। जोंक गाय के स्तन में लग जाय तो दूध को ग्रहण नहीं करती है, खून को ही ग्रहण करती है और उसमें भी अच्छे खून का ग्रहण नहीं करती किन्तु खोटे गंदे खून का ही ग्रहण करती है। हम ऐसी आदत क्यों व्यर्थ में बनाएँ, हमको क्या पड़ी है इसकी?

स्नेह बन्धन—जब यह चित्त नहीं भ्रमता बाह्य पदार्थों में, विशेषतावों का विस्तार नहीं बनाता तब यह जीव बँधता नहीं है। स्नेह ही विकट बन्धन है। मोह मय जगत में मोहमय स्नेह की तारीफ की जाती है, किन्तु अध्यात्म जगत में स्नेह को बन्धन बताया गया हे। आत्मज्ञ योगी जिस समय ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व में रत होता है उसकी प्रवृत्ति शरीरादि बाह्य पदार्थों में नहीं होती है। उन्हें बाह्य में अच्छे बुरे का ज्ञान भी नहीं रहता। इष्ट अनिष्ट संकल्प विकल्प न होने से रागद्वेष रूप परिणति नहीं होती। हम यह न सोचे कि यह साधु संतों के करने योग्य बात गृहस्थावस्था में क्यों जानी जाय ? यहाँ यह भावो का सौदा इस ही प्रकार का है। ऊँचा भाव बन गया, ऊँची दृष्टि बन गयी तो छोटे मोटे व्रत आसानी से पल सकेंगे। यहाँ ऐसा माप तौल न चल सकेगा कि हम जितने व्रत करें उतनी भर दृष्टि रक्खें, उससे आगे हम क्यों चले? दृष्टि बल होने पर थोड़ा बहुत आचरण बना भी सकते हैं, ऐसे ज्ञान के रुचिया अध्यात्मयोगी के शुभ-अशुभ पुण्य-पाप आदि का बन्धन नहीं होता है, प्रत्युत छुटकारा मिल जाता है।

ज्ञानी की विशेषों की उपेक्षा—यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानमय स्वरूप के अनुभवन से एक अनुपम आनन्द के स्वाद को पा चुका है। अब यह दो भिन्न वस्तुवों के मिलाप से होने वाले जो विषय क्षणिक सुख है उसका स्वाद लेने में असमर्थ हो गया है, वह तो अपने वस्तुस्वरूप को ही अनुभव रहा है, यह अपने ज्ञानानुभव के प्रसाद से विवश हो गया है, विषयों में नहीं लग सकता अब। अब अन्य बातों की तो कथा छोड़ो, अपने आप में उदित ज्ञान के विशेषों को भी गौण कर रहा है। जैसे दौड़ता हुआ पुरुष जिस जमीन पर से दौड़ रहा है उस जमीन को नहीं निरखता है, उस जमीन से गुजर रहा है, निरख रहा है किसी अन्य लक्ष्य को। ऐसे ही यह ज्ञानी इस ज्ञान के ज्ञान से गुजर रहा है, पर जो ज्ञान विशेष है, ज्ञेयाकार है उस ज्ञेयाकार को नहीं ग्रहण कर रहा है, एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप को ग्रहण कर रहा है। उसके ज्ञान की एकता होने से जो एक विशुद्ध आनन्द जगता है उसके आगे सब रस फीके हो जाते हैं।

औपाधिक भाव परिणत वस्तु में भी सहजस्वरूप का भान—भैया ! दर्पण मे दर्पण की स्वच्छता भी है, और दुनिया के जो भी सामने पदार्थ है, उनका प्रतिबिम्ब भी हे। जो विवेकी होगा वह तो प्रतिबिम्बित दर्पण में भी स्वच्छता का भान कर सकता है। न होती स्वच्छता तो यह प्रतिबिम्ब भी कहाँ से होता, किन्तु विवेकी पुरुष जिस दर्पण में पूरा ही प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है, किसी कोने में भी स्वच्छता नजर आती है, इसको तो वह दर्पण का स्वरूप नहीं मानता। ऐसे ही यह ज्ञानी ज्ञेयाकार की निरन्तरता होने पर भी ज्ञान की स्वच्छता निहारता है। इस ज्ञान में स्वच्छता शक्ति है और यह ज्ञान कभी भी ज्ञेयो को जाने बिना नहीं रहता है। अब उन ज्ञेयाकारों से, विकल्पों से, आकार ग्रहण से परिणत हुए उस ज्ञानस्वरूप में ज्ञान की स्वच्छता जो निहार सके उसे ही तो ज्ञानी कहते हैं। न होती वह शाश्वत स्वच्छता तो यह ज्ञेय विकल्प ही कहाँ से बन पाता? जब इन ज्ञेय विकल्पो

को ग्रहण नहीं किया, केवल ज्ञान को ग्रहण किया तो इसी का अर्थ यह है कि ऐसा सामान्य आकार बना कि वह ज्ञान गुण में समा गया है पृथक नहीं मालूम होता ।

ज्ञानी का ज्ञान की और झुकाव—जैसे मानो जब दर्पण के सामने कोई वस्तु न रक्खी हो तो दर्पण अपने आप में अपने आकार को अपने आप में समा लेता है, वहाँ पर भी स्वच्छता खाली नहीं रह सकती। वह कुछ न कुछ काम करता है। अपने ही आकार को अपनी ही स्वच्छता में झलका कर बना रहता है, पर स्वच्छता का कार्य न हो तो स्वच्छता का अभाव हो जायगा। ऐसे ही अध्यात्मयोगी संत ज्ञानी पुरुष ज्ञानाकार को ज्ञान द्वारा ग्रहण करके एकमेक समाकर विश्रांत और शान्त रहते हैं, उस समय का जो आनन्द है उसको जो प्राप्त कर लेता है उसे कोई व्यवहार में घर का उत्तरदायी होने के कारण अथवा किन्ही परिस्थितियों में बाह्य कामों में लगना पड़े तो उसे बड़ा अनुताप होता है, वह खेद मानता है। इस प्रकार यहाँ तक के वर्णन से हमें यह शिक्षा लेना है कि हम केवल घर गृहस्थी विषय धन सम्पदा सुख लौकिक बातें इनके लिए अपना जीवन न माँगें, ये सब नष्ट हो जाने वाली चीजें है, दुर्लभ मनुष्य जीवन से जीकर कोई अलौकिक तत्त्वज्ञान का आनन्द प्राप्त कर लिया जाय तो वह ही परम विवेक है। यहाँ क्या है, धन कम पाया या ज्यादा पाया, तो उससे क्या हो गया? आनन्द शान्ति तो ज्ञान के अनुरूप होती है, बाह्य धन सम्पदा के अनुरूप नहीं होती है।

सम्बन्ध का धर्म सम्बन्ध में परिवर्तन—भैया ! ज्ञानार्जन का मन में आशय रक्खे। इस ज्ञान की साधना के लिए अपना तन, मन, वचन, धन सर्वस्व न्यौछावर करके भी यदि कुछ ज्ञानप्रकाश पा लिया तो जीवन सफल माने और घर के जिन लोगो से सम्बन्ध है उनको यह समझावो, इस सम्बन्ध को वैषयिक विषयों में न ढालकर इस मित्रता को मोक्षमार्ग की पद्धति में बसा लो। मित्रता यह भी कहलायी और मित्रता वहाँ भी कहलायी। इस सम्बंध और मित्रता को मोक्षमार्ग की पद्धति में बदल दो। ऐसा सम्बंध बन सका तो यह असम्बंध का उत्साह देने वाला सम्बंध रहा। यह सब हमें किस प्रकार मिले सो पूजन करके रोज पढ़ लेते हैं। ७ चीजें रोज माँगते हो। शास्त्रों का अभ्यास चले, सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की भक्ति रहे, सदा सज्जन पुरुषों के साथ संगति रहे, गुणी पुरुषों के गुण कहने में समय जाय, दूसरों के दोष कहने के लिए गूँगा बन जाये, और वचन कुछ भी कभी बोलने पड़े तो सबको प्रिय हो और हितकारी हो। निरन्तर यह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व ही हितरूप है ऐसी भावना रक्खे। तो इन कर्तव्यों के प्रसाद से नियम से अलौकिक तत्त्व और आनन्द प्रकट होगा।

श्लोक 45

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।

अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।४५।।

दु:ख और सुख का हेतु—परपदार्थ पर ही है, इस कारण उससे दुःख होता है और आत्मा-आत्मा ही है अर्थात् अपना-अपना ही है, इस कारण उससे सुख होता है लोक में भी व्यामोही जन कहते हे कि अपना सो अपना ही है, उसका ही भरोसा है, उसका ही विश्वास है और जो पराया है सो पराया ही है, न उसका भरोसा है, न उससे हित की आशा ही है। आत्महित के पंथ में यह कहा जा रहा है कि आत्मा का जो आत्मीय तत्त्व है, जो इसके निजी सत्ता की बात है वह तो स्वयं है, उससे तो सुख हो सकता है, और सहज स्वभाव को त्यागकर अपने स्वरूप का विस्मरण करके जो अन्य पर में आपको बसाया जाता है और जो परभाव उत्पन्न होते है? वे पर है, उनसे हित की आशा नहीं है।

अपनी स्थिति का विचार—भैया ! हम आप सब जीव कब से है, इसका अनुमान तो करो। लोक में जो भी पदार्थ है उनमें ऐसा कुछ नहीं है कि वे पहिले कुछ न थे और बाद मे हो गए हो। ऐसा कुछ भी उदाहरण न मिलेगा जो पहिले कुछ भी न रहा हो और बाद मे हो गया हो। यो ही अपने बारे में विचारो, जिसमें मैं-मैं की अन्तर्ध्वनि होती है, जिसको मैं कहा जा रहा है। ऐसा कोई यह पदार्थ चूँकि समझ रहा है, ज्ञान कर रहा है इसलिए ज्ञानमय ही होगा। यह ज्ञानमात्र मैं तत्त्व स्वयं से बना हूँ। मैं कब से हूँ? अनादि से हूँ स्वतः सिद्ध हूँ, तो उसका अर्थ ही यह निकला कि सदैव से हूँ ऐसे अनादि से हम और आप है, इन दृश्यमान पर्यायों से मैं विविक्त हूँ। खुद भी समझ रहे हैं कि ४०-५० वर्ष से यह पर्याय है, पर इसके पहले मैं था या न था—इस पर विचार कीजिए। ऐसा तो नहीं हो सकता कि इस मनुष्य भव से पहिले मैं शून्य था या अविकारी था, क्योंकि शुद्ध होता तो कोई कारण नहीं है कि यह आज अशुद्ध रहता । था शुद्ध अनादि से तो शुद्ध रूप ही तो होऊँगा, फिर कैसे आज अशुद्ध हो गया?

आंखों देखा निर्णय—जैसे हम मनुष्यो को और मनुष्य को छोड़कर अन्य जीवों को देखते हैं और इस ही प्रकार के अन्य भी अनेक जीव जो आंखों दिखने में नहीं आए किन्तु परोक्ष से आज भी किसी पर को जान लेते हैं, ये सब अनादिकाल से ऐसी ही चतुर्गति योनियों में भ्रमण करते आए है, अनन्त भव धारण किए, छोड़ा, फिर धारण किया। किसी भी भव का समागम आज नहीं है और यह भी निर्णय हे कि इस भव का समागम भी आपके पास न रहेगा। आँखों देखी भी बात है। जो भी मरण करेंगे तो आज जो कुछ उनके पास समागम है क्या वह साथ देगा? अथवा यहाँ कुछ सर्वस्व है क्या अपना? कितना बड़ा अज्ञान अंधकार छाया है कि इन समागमों का यथार्थस्वरूप नहीं जान सकते हैं। गृहस्थ व्यवस्थ हैं, करनी पड़ती है, ठीक है, पर सच्चा ज्ञान तो ज्ञान साध्य बात है। कुछ भी समागम न मेरे साथ आया है और न आगे जायगा, और जब तक भी यह साथ है तब तक भी मेरे से न्यारा है, पर है, इन सबका मुझ में अत्यन्ताभाव है। ये पर है, जो पर है, पराया है उससे हमारा क्या हित हो सकता है? वह तो दुःख का ही निमित्त बनेगा।

उत्तम समागम का उपयोग—आज हम आपने बहुत अच्छी स्थिति पायी है मनुष्य हुए, श्रावक कुल मिला, जहाँ अहिंसामय धर्म का सदाचार का ही उपदेश है, वातावरण है। जितने भी हम आपके इस शासन में जो भी पर्व आते हैं, जो भी विधि-विधान होते हैं वे अहिंसापूर्ण और बड़ी पवित्रता को रखते हुए होते हैं। परम्परा भी कितनी विशुद्ध है? शास्त्र स्वाध्याय की भी शुद्ध परम्परा है। ग्रन्थ भी कितने निर्दोष है, जिनमें रागद्वेष मोह के त्याग को ही उपदेश भरा है, और वह मोह का त्याग एक वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान पर अवलम्बित है, ऐसा स्वरूप का निर्णय भी इस स्याद्वाद शैली में किया हुआ मिलता है। कितनी उत्कृष्ट बातें हम आपको प्राप्त है। इतनी अच्छी स्थिति में आकर भी परपदार्थों के मोह के राग के ही स्वप्न देखा करे तो अपने हृदय से पूछ लो कि मनुष्य बनकर कौनसी ऐसी अलौकिक चीज पायी, जिससे हम यह कह सकें कि हमने मनुष्य जन्म को सफल किया। सफलता तो उसे कहते हैं जिसके बाद ऊँची स्थिति मिले। मनुष्य होने के बाद कीड़ा मकोड़ा हो गए, वृक्ष पतंगे बन गए तो मनुष्य जन्म पाने की सफलता कैसे कही जा सकती है?

निजहित के बिना परहित कैसा—भैया ! अपने स्वार्थ की सिद्धि प्रत्येक जीव चाहता है। स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही अर्थ कर सकता है। जिसमें अपने आत्मा का हित हो, जो भविष्य में सदा काम आए, ऐसी कोई बात सिद्ध कर ले उससे ही जीवन में सफलता है। यदि हम परमार्थ पद्धति से अपना प्रयोजन साध लें तो अनेकों का उपकार आपके निमित्त से स्वतः बनता रहेगा और जब तक हम अपने आपके सदाचार सम्यग्ज्ञान स्वावलम्बन को तजकर केवल एक बड़प्पन के लिए परके उपकार की हम एक डींग मारें तो समझ लीजिए कि वहाँ पर का उपकार भी असम्भव है और अपना भी उपकार असम्भव है। कोई पुरुष यह माने कि मैं धर्म की प्रभावना करूँ, लोगो की दृष्टि में यह बात बैठ जाय कि इसका धर्म बड़ा पवित्र है। मैं उपदेश करूँ उपदेश कराऊँ, और विधिविधान से प्रभावना करूँ, और स्वयं के लिए कुछ नहीं, वही मोह वही रागद्वेष, वही अंतः अवगुण, वे सब बने रहें, किन्तु दूसरों में धर्म की प्रभावना हो, ऐसे ही दूसरे तीसरे सोच ले। १०० हो तो १०० भी सोच ले, तो प्रत्येक पुरुष ने ९९ को धर्म प्रभावना करने के लिए धर्म बताने के लिए अथक परिश्रम किया, किन्तु वे १०० के १०० ही रंच भी नहीं बढ़ सके धर्म की और, न प्रभावना हुई । यदि उनमें ५ भी सत्पुरुष ऐसे निकले कि अपना उपकार और सम्यग्ज्ञान में भव बनाएँ तो पांच का तो उपकार हुआ, और उन पांच के अंतरंग की बात दूसरों के अंतरंग में पहुँचती है ऐसे व्यवहार नीति कहती है। तो वास्तविक मायने में कुछ औरो का भी उपकार सम्भव है।

समागम की विनश्वरता का ध्यान—भैया ! अपन सबको मुख्य दृष्टि यह रखना चाहिए कि मुझे तो अपना भला करना है। ये सब समागम किसी न किसी दिन बिछुड़ेंगे। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। अपनी साधना निर्विघ्न बनी रहे, इसके लिए कमजोर अवस्था में गृहस्थी स्वीकार करनी पड़ी है और कर रहे हैं, गृहस्थ की पदवी में करना चाहिए किन्तु यथार्थ ज्ञान से यदि अपन हट गए तो मनुष्य जन्म की सफलता न समझिए। देहादिक

परपदार्थ पर ही है, इनकी प्रीति से, आसक्ति से केवल क्लेश ही है। इस शरीर की सेवा करनी पड़ती है। शरीर स्वस्थ रहे तो हम धार्मिक व्यवहार करने में समर्थ रहेंगे और हम अपनी ज्ञानदृष्टि रख सकेंगे। ज्ञान हमने अपना शुद्ध रख पाया तो अंतः सयंम बनेगा और उससे आत्महित होगा। ज्ञानी पुरुष समस्त क्रियावों को करके भी उसमें किसी न किसी ढंग से आत्महित का ही प्रयोजन रखता है। हम प्रभु की भक्ति तो करे, पूजन वंदन करे और चित्त में उनका आदर्श न समझ पाये, अपने अंतरंग से यह ध्वनि न बन सके कि हे प्रभो ! करने लायक बात तो यही है जो आपने की। मुझे भी यही स्थिति मिले तो संकट छूट सकेंगे। यदि ऐसी अन्तर्ध्वनि न निकल सके तो वंदन पूजन मोक्षमार्ग के संदर्भ में क्या लाभ पाया ?

निज स्वरूप की प्रतीति—निर्णय रखिये पक्का कि जो परपदार्थ है वे पर ही है, उनके आकर्षण से, उनकी प्रीति से क्लेश ही होगा। जो भीतर में चित्त रंग गया हे, मोह और लोभ के उस रंग को धोने की बात कही जा रही है। गृहस्थी में रह रहे हैं, ठीक है, पर परपदार्थ में जो मोह का रंग रँगा हुआ है, अंतर मे जो यह श्रद्धा बनी है कि मेरे तो सर्वस्व ये ही सब है, इनसे ही हित है, बड़प्पन है, ये ही मेरी जान है, ऐसा जो मोह का रंग चढ़ा हुआ हे जो कि बिल्कुल व्यर्थ है, उसे मेटिये। कुछ दिन की बात है, छोडकर सब जाना ही पड़ेगा। पर से उपेक्षा करके आत्मरुचि बढ़ा लो। यह तो अपने हित की बात है किसी दूसरे को सुनाना नहीं है, घर कुटुम्ब के लोगों से कुछ कहने की जरूरत नहीं है कि तुम सब पर हो, नरक निगोद की खान हो, तुम्हारी प्रीति से दुर्गति ही होगी, ये तो लड़ाई के उपाय है। किसी से कुछ कहने की बात नहीं कही जा रही है किन्तु अपने चित्त में सही ज्ञान तो जगाओ। बात जो हो उसे मान लो, बड़ा आनन्द होगा, आपका बोझ दूर हो जायगा।

निर्भार के अवलम्बन में भार का हटाव—भैया ! मोह को जो बोझ लदा है, जिससे शान्ति का मार्ग नजर नहीं आता है उस बोझ के हटाने में कुछ कठिनाई मालूम हो रही है क्या? आज एक कुटी में इन अनन्त जीवो में से कोई दो चार जीव आ गए। ये दो चार जीव न आते, कोई और ही आते तो उन्हें भी अपना मानने की आदत थी। जिसे अपना माना है कोई हिसाब से नहीं माना है। जो आया सामने उसे ही अपना माना है। मोह की आदत इसमें पड़ी है ना, सो जो भी जीव सामने संग में प्रसंग में आ गया उसे ही अपना मान लेते हैं, ऐसी अटपट बात है यह । जैसे अनन्त जीव भिन्न है, इस ही प्रकार ये जीव भी भिन्न है ऐसा यहाँ निर्णय अपने अन्तःकरण में लीजिये । कुछ कहने सुनने से आनन्द नहीं आता है। भीतर में ज्ञान का और उस प्रकार के श्रद्धान का आनन्द आया करता है।

स्निह्य के वियोग में क्लेश की अनिवार्यता—भैया ! सभी को सुख प्रिय है, अशान्ति दूर हो, शान्ति उत्पन्न हो, इसके लिए ही सबका प्रयत्न है। वह शान्ति परमार्थ से वास्तव में जिस भी उपाय में मिलती हो उसको मना तो नहीं करना चाहिए। खूब परख लो, किसी भी विषय साधन के संचय में, किसी भी परपदार्थ के उपयोग में,

आसक्ति में, कभी क्या शान्ति मिल सकती है? इस उपयोग ने जिन पदार्थों को विषय किया है वे तो नियमतः विनाशीक है, वे मिटेंगे, तो यह उपयोग फिर इसकी कल्पना में निराश्रित होगा ना, तब क्लेश ही तो होगा। इस उपयोग से जिस पर पदार्थ का विषय आता है वह पर स्वयं की अपनी परिणति से परिणमता है, परपदार्थ का परिणमन उसके ही कषाय के अनुरूप होगा। परपदार्थ का उपयोग और प्रेम केवल क्लेश का ही कारण होता है । चलते जाते, फिरते, सफर करते हुए में भी कही एक आध दिन टिक जाय, कुछ वार्तालाप के प्रसंग में कुछ स्नेह भाव बढ़ जाय तो उनके वियोग के समय भी कुछ विषाद की रेखा खिंच जाती है। यद्यपि जिससे वार्तालाप होता है वह अन्य देश, अन्य नगर, अन्य जाति का है, सर्व प्रकार से अन्य-अन्य है, कुछ प्रयोजन नहीं है, केवल कभी जीवन में मिल गया है। दो एक घंटे को रेल मे सफर करते हुए, उससे कुछ वार्तालाप होने को स्नेह जग गया, अब वह अपने निर्दिष्ट स्टेशन पर उतरेगा ही, तो वहाँ पर उस स्नेह करने वाले के एक विषाद की रेखा खिंच जायगी। ऐसा ही यह जगत के जीवो का प्रसंग हे। इस अनन्तकाल में कुछ समय के लिए यहाँ कुछ लोग मिल गए है। जिन पुत्र, मित्र, स्त्री, आदि से स्नेह बढ़ गया है उनका जब विछोह होगा तो इसे क्लेश होगा। बिछुड़ना तो पड़ेगा ही।

भेद विज्ञान के निर्णय की प्रथम आवश्यकता—एक ही निर्णय है कि अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य किसी भी परपदार्थ में स्नेह किया, ममता की चाहे कुटुम्ब परिजन के लोग हो, चाहे जड़ सम्पदा हो, किसी भी परपदार्थ में ममता जगी तो उसका फल नियम से क्लेश है। हम जिस प्रभु की आराधना करते हैं वह पुरुष तो केवल है ना। उनके भी घर गृहस्थी परिग्रह का प्रसंग है क्या? वे तो केवल ज्ञानपुंज रह गये हैं, हम ऐसे ज्ञानपुंज की तो उपासना करें और चित्त में यह माने कि सुख और बड़प्पन तो घर गृहस्थी सम्पदा के कारण होता है। तो हमने क्या माना, क्या पूजन किया, क्या भक्ति की ? चित्त में एक निर्णय रख लीजिए और इस बात के निर्णय में यदि बुद्धि नहीं आती है तो इसका निर्णय प्रथम कीजिए। भेदविज्ञान जगे बिना धर्मपालन की पात्रता न आ सकेगी। स्वयं के हित का उपाय बना लेना सर्वोत्तम व्यवसाय वे पुरूषार्थ है, उससे आँखे नहीं मींचना है।

पर से आनन्दप्राप्ति असंभव—ये सब समागम तो एक पुण्य पाप के ठाठ है, भिन्न है, सदा रहने के नहीं है, इनके समागम के समय भी हित नहीं है और वियोग के समय क्लेश के निमित्तभूत हो सकते हैं। इन जड़ पदार्थों से क्या हित है? जिन पदार्थों में स्वयं सुख नहीं है वहाँ से सुख निकलकर मुझमें कहाँ आयगा? जो चेतन भी पदार्थ है, परिजन, मित्रजन उनमें सुख गुण तो है, किन्तु वह सुख गुण उनमें ही परिणमन करने के लिए है या उनका कुछ अंश मुझमें भी आ सकता है? उनमें ही परिणमन करने के लिए उनका सुख गुण है। जब इतना अत्यन्त भेद है फिर उनमें आत्मीयता की कल्पना क्यों की जाय? जो उन्हें अपना मानेंगे उनके वियोग में अवश्य दुःखी होगा। गृहस्थ जनों का यह सामान्य कर्तव्य है कि यह निर्णय बनाए रहे, संयोग के काल में भी जो-जो

कुछ यहाँ मिला है नियम से अलग होगा, ऐसी श्रद्धा होगी तो संयोग के काल में यह जीव हर्षमग्न न होगा। संयोग के काल में हर्षमग्न न हो वह वियोग के काल में भी दु:ख न मानेगा।

आत्मलाभ का उपाय—भैया ! किसी भी पर से आत्मा को सुख नहीं, केवल जो आत्मा पदार्थ है, ज्ञायकस्वरूप है वह ही अपना सर्वस्व है। उसे अपनाने से, उसमें ही यह मात्र मैं हूं, ऐसी प्रतीति करने से सुख मिलेगा। बड़े-बड़े महापुरुष तीर्थंकरों ने भी यही मार्ग अपनाया था, जिसके फल में आज उनमें अनन्त प्रभुता प्रकट हुई है। हम आप उनके उपासक होकर उस स्वरूप की दृष्टि न करें तो कैसे हित हो? अपना जीवन सफल करना चाहते हैं तो यही बड़ा तप करने योग्य है कि उस अपने ज्ञायकस्वरूप को आत्मा मानकर, अपना मानकर उसमें ही उपयोग लीन बनाए रहे, इसे चैतन्यप्रतपन कहते हैं। यही प्रतपन है और इस प्रतपन का प्रताप अनन्त आनन्द को देने वाला है। अपना यही एक निर्णय रखिए कि ये देहादिक समस्त परपदार्थ है, इनकी प्रीति में हित नहीं है, किन्तु ज्ञायक प्रकाशमात्र अपने आत्मा को 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव करें तो इसमें ही हित है।

श्लोक 46

अविद्वान पुद्‌गलद्रव्यं योऽभिनन्दनि तस्य तत्।

न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।।४६।।

मोही की मान्यता—जो अविद्वान व्यवहारी पुरुष पुद्‌गल द्रव्य को, यह मेरा है, यह इनका है—इस प्रकार से अभिनन्दन करते हैं अर्थात् मानते हैं उन जंतुओं का इस बहिर्मुखता में भ्रमण नहीं छूटता और चारों गतियों मे पुद्‌गल द्रव्य उसके निकट रहते हैं। लोक में ६ जाति के पदार्थ होते है—जीव, पुद्‌गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव तो अनन्तानंत है, पुद्‌गल जीवों से भी अनन्तगुणे है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्यात है, ये सभी स्वतंत्र है, किन्तु मोही जीव स्वतंत्र नहीं समझ पाता।

जीव की अनन्तानन्त गणना—जीव कैसे अनन्तानन्त है, यह बात अनुभव से भी जान रहे हैं। आपका अनुभवन, परिणमन केवल आपके आत्मा मे हो रहा है, उसका अनुभव मुझ में नहीं होता। मेरे आत्मा का जो परिणमन जो अनुभवन हो रहा है वह मुझमें हो रहा है, आप सब किसी में भी नहीं हो रहा है। यह वस्तुस्वरूप की बात कही जा रही है। ध्यानपूर्वक सुनने से सब सरल हो जाता है। अपनी बात अपनी समझ में न आए, यह कैसे हो सकता है? जब इतना क्षयोपशम पाया है कि हजारों लाखों का हिसाब किताब और अनेक जगहों के प्रबन्ध जब कर लिए जा सकते हैं इस के द्वारा तो यह ज्ञान अपने आप में बसे हुए स्वरूप को भी न जान सके, यह कैसे हो सकता है, किन्तु व्यामोह को शिथिल करके जगत की असारता सामान्य रूप से निगाह में रखकर कुछ अंतः उपयोग लगायें तो बात समझ में आ जाती है। हाँ जीव अनन्तानन्त कैसे है—इस बात को कहा जा

रहा है। हमारा परिणमन, हमारा अनुभवन हम ही में है, आपका आप ही में है। इससे यह सिद्ध है कि हम आप सब एक-एक स्वतंत्र जीव है। यदि इस जगत में सर्वत्र एक ही जीव होता तो हमारा विचार हमारा अनुभवन सबमें एक साथ, एक समान अथवा वही का वही होता। यों ऐसे-ऐसे एक-एक करिके समस्त जीव अनन्तानन्त विदित कर लेना चाहिये।

एक द्रव्य का परिणमन—एक पदार्थ उतना होता है जिसमें प्रत्येक परिणमन उस पूरे में होना ही पड़े। कोई परिणमन यदि पूरे में नहीं हो रहा है तो समझो कि वह एक चीज नहीं है। अनन्तानन्त वस्तु है, जैसे कोई कपड़ा एक और से जल रहा है तो वह एक चीज नहीं जल रही है। उसमें जितने भी तंतु है वे सब एक-एक है और उन तंतुओं में जितने खंड हो सकते हैं वे एक-एक द्रव्य है। यह अनेक द्रव्यो का पिंड है इस कारण एक परिणमन उस पूरे में एक साथ नहीं हो रहा है। जिसको कल्पना में एक माना है, इस तरह हम आप सब अनन्त जीव है।

जीवों से अनन्तगुणे पुद्गलों का निरूपण—जीव से अनन्तगुणे पुद्गल है। ये कैसे माना जाय ? यों देखिए—इन संसारी जीवों में एक जीव को ले लीजिए—एक जीव के साथ जो शरीर लगा है उस शरीर में अनन्त परमाणु है और उस शरीर के भी अनन्तगुणे परमाणु इस जीव के साथ लगे हुए तैजस शरीर में है और उससे भी अनन्तगुणे परमाणु जीव के साथ के साथ लगे हुए कार्माण शरीर में है। एक जीव के साथ अनन्त पुद्गल लगे हुए है और जीव है अनन्तानंत तो पुद्गल समझ जाइये कितने है। यद्यपि सिद्ध भगवान स्वतंत्र एक-एक है और वे भी अनन्त है, किन्तु सिद्ध से अनन्तानन्त गुणे ये संसारी प्राणी है, इसलिए उससे भी हिसाब में बाधा नहीं आती है। अब आपके ये अणु-अणु एक-एक है, हम आप सभी जीव एक-एक अलग-अलग है। तो यह निर्णय कर लो कि मेरा करना जो कुछ हो सकता है वह मुझमें ही हो सकता है, मैं किसी दूसरे में कुछ करने में समर्थ नहीं हूं। केवल कल्पना करके मैं अपने को विकल्प ग्रस्त बनाये रहता हूं किसी दूसरे का कुछ करता नहीं हूँ। सुख दुःख जीवन मरण सब कुछ इस जीव के अकेले ही अकेले चलते हैं। कोई किसी का शरण अथवा साथी नहीं है। जब वस्तु में इतनी स्वतंत्रता पड़ी हुई है फिर भी कोई व्यामोही पुरुष माने कि शरीर मेरा है, यह मेरा है, इस प्रकार का भिन्न द्रव्य स्वामित्व माने तो उसके साथ यह शरीर सदा लगा रहेगा अर्थात् वह संसार में भ्रमण करता रहेगा। जीव के प्रतिबोध के लिए प्रत्येक मिथ्या वासनाएँ हट जानी चाहिये।

क्लेशमूल तीन अवगुण—एक तो परपदार्थ में अपना स्वामित्व मानना और दूसरे परपदार्थों का आपको कर्त्ता समझना, अपने आपको परपदार्थों को भोगने वाला समझना। देखिये ये तीनों ऐब संसारी प्राणी में भरे पडे हुए है। इन तीनों में से एक भी कम हो तो वे तीनों ही कम हो जायेंगे। मोह में परजीवों के प्रति कितना तीव्र स्वामित्व का भाव लगा है, ये ही मेरे है। जो कुछ कमाना है, जो कुछ श्रम करना है केवल इनके खातिर करना है। बाकी जगत के अन्य जीवों के प्रति कुछ भी सोच विचार नहीं है। कर्तृत्व बुद्धि भी ऐसी लगी है कि इन

बच्चों को मैने ही पाला, मैने ही अमुक काम किया, ऐसी कर्तृत्वबुद्धि भी लगी है, पर परमार्थतः कोई जीव दूसरे पदार्थ का कुछ कर सकने वाला नहीं है। यह मिथ्या भ्रम है कि कोई अन्य किसी का कुछ कर सके, अथवा किसी की गल्ती से किसी दूसरे को नुकसान सहना पड़ता है। जो भी जीव दुःखी होते हैं वे अपनी कल्पना से दुःखी होते हैं, किसी को दुःखी करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है।

कर्तृत्व के भ्रम पर एक दृष्टान्त—एक सेठ था, उसके चार लड़के थे। बड़ा लड़का कमाऊ था, उससे छोटा जुवारी था, उससे छोटा अंधा और सबसे छोटा पुजारी था। बंडे लड़के की स्त्री रोज-रोज हैरान करे कि देखो तुम सारी कमाई करते हो, दुकान चलाते हो और ये सब खाते हैं। तुम न्यारे हो जावो तो जितना कमाते हो सब अपने घर में रहेगा। बहुत दिनों तक कहासुनी चलती रही। एक बार सेठ से बोला बड़ा लड़का कि पिताजी अब हम न्यारे होना चाहते हैं। तो सेठ बोला कि कुछ हर्ज नहीं बेटा, न्यारे हो जाना, पर एक बार सब लोग मिलकर तीर्थयात्रा कर लो। न्यारे हो जाने पर न जाने किसका कैसा भाग्य है? सो चले सब यात्रा के लिए। रास्ते में एक नगर बगीचे में अपना डेरा डाल दिया और चार पांच दिन के लिए बस गए। पहिले दिन सेठ ने बंडे लड़के को १० रु० देकर कहा कि जावो सबके खाने के लिए सामान ले आवो। वह सोचता है कि १० रु० में हम तीस, बत्तीस आदमियों के खाने को क्या लाएँ, सो उसने किसी बाजार से कोई चीज खरीदी और पास के बाजार में जाकर बेच दी तो १) मुनाफा मिला। अब ११) का सामान लेकर वह आया और सबको भोजन कराया। दूसरे दिन दूसरे, जुवारी लड़के को १०) देकर भेजा, कहा बाजार से १०) की भोजन सामग्री ले आवो। वह चला १०) लेकर। सोचता है कि इतने का क्या लाएँ? तीस बत्तीस आदमियों के खाने के लिए, सो वह जुवारियों के पास पहुंचा और एक दाव में १०) लगा दिए, समय की बात कि वह जीत गया, अब २०) हो गए, सो २०) की भोजन सामग्री लेकर सबको खिलाया। तीसरे दिन अंधा लड़का १०) लेकर भोजन सामग्री लेने के लिए चला। उसे रास्ते में एक पत्थर में ठोकर लग गयी। सो सोचा कि इसे निकाल फेंके, नहीं तो किसी दूसरे के लग जायगा। सो निकालने लगा। वह पत्थर काफी गहरा गड़ा था सो उसके खोदने में विलंब लग गया। जब वह पत्थर खोद डालना तो उसमें एक अशर्फियाँ का हंडा मिला। उन अशर्फियों से उसने भोजन सामग्री खरीदी और सब अशर्फियों को लेकर घर पहुंचा।

चौथे दिन उस सेठ ने अपने लड़के पुजारी को १०) देकर भोजन सामग्री लाने के लिए भेजा। उसे नगर में मिला एक मन्दिर। उसने क्या किया कि एक चाँदी का कटोरा खरीदा, घी खरीदा और रुई की बाती बनाई। आरती धरकर मंदिर में भजन करने लगा। भजन करते-करते जब शाम के चार बज गये तो मंदिर का अधिष्ठाता देव सोचता है कि इसके घर में भूखे पड़े है, इसमें तो धर्म की अप्रभावना होगी, सो उस लड़के का रूप बनाकर बहुत-सी भोजन सामग्री गाड़ियों में लादकर सेठ के यहाँ ले गया। सबने खूब भोजन किया और सारे नगर के लोगो को खिलाया। अब रात के ७-८ बजे वह लड़का सोचता है कि अब घर चलना चाहिए। पहुंचा घर रोनी

सी सूरत लेकर, कहा पिता जी मैने १०) की सामग्री लेकर मंदिर में चढ़ा दिया। पिताजी हमसे अपराध हुआ, आज तो सब लोग भूखे रह गए होगे। तो पिता जी बोले- बेटा यह तुम क्या कह रहे हो? तुम तो इतना सामान लाए कि सारे नगर के लोगो को खिलाया और खुद खाया। तो पुजारी ने अपना सारा वृतान्त सुनाया। मैं तो मंदिर में आरती कर रहा था। तो फिर मैने सोचा कि इस कटोरे को भी कौन ले जाय सो उसे भी छोड़कर चला आया। चार-पांच दिन व्यतीत होने पर एकांत स्थान में बडे लड़के को बुलाकर सेठ पूछता है—कहो भाई यह तो बताओ कि तुम्हारी तकदीर कितनी है? तो वह बोला कि मेरी तकदीर एक रुपये की है, और जुवारी की तकदीर है उससे दस गुना, और अंधे की तकदीर हजार गुना और पुजारी के गुणों का तो कोई हिसाब ही नहीं है। जिसकी देवता तक भी मदद करें उसकी तकदीर का क्या गुना निकाला जा सकता है? जब उस बड़े लड़के की समझ में आया, और बोला—पिता जी मैं व्यर्थ ही कर्तृत्व बुद्धि का अहंकार कर रहा था। मैं नहीं समझता था कि सब का भाग्य अपने-अपने साथ है। अब मैं अलग न होऊँगा।

पर की अपनायत में विडम्बना—यह जीव भ्रमवश कर्तृत्व बुद्धि का अहंकार करता है। इस जीव का तो अकर्त्ता स्वरूप है, केवल ज्ञाताद्रष्टा ज्ञानानन्द का पुञ्ज चित्स्वभाव मात्र अपने आप विश्वास बनावो। भ्रमवश यह जिस भव में गया उस ही पर्यायरूप यह अपने को मान रहा है। पशु हुआ तो पशु माना, पक्षी हुआ तो पक्षी माना। जैसे कि आजकल हम आप मनुष्य है तो ऐसी श्रद्धा बैठाए है कि हम मनुष्य है, इंसान है। बहुत बड़ी उदारता दिखाई तो जाति का भेद मिटा दो, कुल का भेद मिटावो, एक मनुष्य-मनुष्य मान लो सबको। इतना तक ही विचार पहुंचता है अथवा इतनी भी उदारता का भाव चित्त में नहीं आता। अरे इससे अधिक उदारता यह है कि यह मान लो कि हम मनुष्य ही नहीं है। मैं तो एक चैतन्य तत्त्व हूं। आज मनुष्य देह में फंस गया हूँ,कभी किसी देह में था। मैं कहाँ मनुष्य हूं, मनुष्य भव से गुजर रहा हूं। अपने आपको विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप इस जीव ने नहीं माना। इसके फल में परिणाम यह निकला कि इस जीव के साथ सारी विडम्बनाएँ साथ-साथ चल रही है, जन्म मरण की संतति बनती चली जा रही है।

ज्ञानामृत—भेदविज्ञान ही एक अमृत है। उस अमृत को कैसे पकड़ोगे, अमृत कोई पानी जैसा नहीं होता अमृत कोई फल जैसा नहीं होता। अमृत क्या चीज है जिसका पान करने से यह आत्मा अमर हो जाता है? जरा बुद्धि में तो लावो। अमृत का अर्थ क्या है? अ मायने नहीं, मृत मायने मरे, जो मरे नहीं सो अमृत है। जो स्वयं कभी मरे नहीं अर्थात् नष्ट न हो उसे अमृत कहते हैं। जो कभी नष्ट न हो ऐसी वस्तु मेरे लिए है ज्ञान। ज्ञानस्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। इस अविनाशी ज्ञानस्वभाव को जो लक्ष्य में लेता है अर्थात् इस ज्ञानामृत का पान करता है वह आत्मा अमर हो जाता है। अमर तो है ही यह, पर कल्पना में जो यह आया कि मैं मनुष्य हूँ, अब तक जीवित हूँ, अब मर रहा हूं, ऐसी जो बुद्धि आयी उसके कारण संसार में रुलना पड़ रहा है। मोह का माहात्म्य तो देखा—यह जीव विषय-विषरस को तो दौड़ दौड़कर भटक भटककर पीता है और इस ज्ञानामृत का इसने

निरादर कर दिया है, उसकी और तो यह देखता भी नहीं है। जो-जो जन्तु पुद्‌गल द्रव्य को अपना मानते हैं उनके साथ ये पुद्‌गल के सम्बन्ध की विडम्बनाएं चारों गतियों में साथ नहीं छोड़ती है।

पुद्‌गलों का मुझमें अत्यन्ताभाव—इन पुद्‌गलों का मुझ में अत्यन्ताभाव है। मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी भी अणु में नहीं पहुंच सकता है । किसी अणु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझ में नहीं आ सकता है। जैसे घर में बसने वाले १० पुरुषों में परस्पर में एक दूसरे से मन न मिलता हो तो लोग कहते हैं कि एक घर में रहते हुए भी वे बिल्कुल न्यारे-न्यारे रहते हैं। वहाँ तो फिर भी क्षेत्र जुदा है, किन्तु यहाँ शरीर है वहाँ ही जीव है, एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है, फिर भी जीव का कोई अंश इस शरीर में नहीं जाता, शरीर का कोई अंश इस जीव में नहीं आता। एक क्षेत्रावगाही होकर भी शरीर-शरीर में परिणम रहा है और जीव-जीव में परिणम रहा है। यों सर्वथा भिन्न है ये बाह्य समागम, ये आत्मा के न कभी हुए और न कभी हो सकते हैं, किन्तु मिथ्या आशय जब पड़ा हुआ है, अपने आपके सुख स्वरूप का परिचय नहीं पाया है तो भेदविज्ञान का विवेक नहीं हो पाता है। इस जगत में रहकर मौज मानने का काम नहीं हे। कितनी विडम्बना हम आपके साथ लगी है उस पर दृष्टिपात करे उन विपत्तियों से छूटने का यथार्थ उपाय बनाये।

माया की वाञ्छा अनर्थ का मूल—इस मायामय जगत में मायामय लोगो को निरखकर मायामय यश की मायामय चाह करना यह अनर्थ का मूल है। एक आनन्दधाम अपने आपके परमार्थ ब्रह्मस्वरूप का दर्शन करे, आनन्द वही से निकलकर आ रहा है, विषय सुख भी जब भोगा जाता है वहाँ भी आनन्द विषयों से नहीं आ रहा है किन्तु आनन्द का धाम यह स्वयं आत्मा है और उस विकृत अवस्था में भी इस ही से सुख के रूप में यह आनन्द प्रकट हो रहा है। जो बात जहाँ नहीं है। वहाँ से कैसे प्रकट हो सकती है? जैसे यह कहना मिथ्या है कि मैं तुम पर प्रेम करता हूं, अरे मुझ में प्रेम पर्याय उत्पन्न होती है वह मेरे में ही होती है, मेरे से बाहर किसी दूसरे जीव पर वह प्रेमपर्याय नहीं उतर सकती है। जैसे यह कहना मिथ्या है ऐसे ही यह कहना भी मिथ्या है कि मैने भोग भोगा, मैंने अमुक पदार्थ का सेवन किया। यह मैं न किसी पर को कर सकता हूँ और न कोई भोग-भोग सकता हूँ, किन्तु केवल अपने आप में अपने ज्ञानादिक गुणों का परिणमन ही कर सकता हूँ। चाहे मिथ्या विपरीत परिणमन करूँ और चाहे स्वभाव के अनुरूप परिणमन करूँ, पर मैं अपने आपको करने और भोगने के सिवाय और कुछ नहीं करता हूं और न भोगता हूं। यह वस्तु की स्वतंत्रता जब ज्ञान में उतर जाती है तो मोह दूर हो जाता है।

मोहविनाश का उपाय भेदविज्ञान—भैया ! प्रभु की भक्ति से, प्रभु से भिक्षा मांगने से या अन्य प्रकार के तप करने से मोह नहीं गलता। मोह गलने का मूल मंत्र तो भेदविज्ञान है। ये भक्ति, तप, व्रत संयम कहाँ तक काम देता है, इसको भी सुनिये। यह जीव अनादि से विषय वासना में जुटा हुआ है। इसका उपयोग विषयवासना में न रहे और उसमें इतनी पात्रता आए कि यह ज्ञानस्वरूप का दर्शन कर सकेगा, उसके लिए पूजन, भक्ति, तप,

संयम, व्रत ये सब व्यवहार धर्म है, पर मोह के विनाश की समस्या तो केवल भेदविज्ञान से ही सुलझती है, क्योंकि किसी पदार्थ में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की बुद्धि मानने से ही तो अज्ञानरूप यह मोह हुआ। परपदार्थ की भिन्नता न जान सके और उसे एक दूसरे का स्वामी मान ले, इसी मानने का ही तो नाम मोह है। जैसे कोई पुरुष अपने परिजनों में मोह करता है तो उसका अर्थ ही यह हे कि इन परिजनों को आपा माना है, आत्मा समझा है। यह आत्मीयता का जो भ्रम है इसके मिट जाने का ही नाम मोह का विनाश है। यह ज्ञान से ही मिटेगा। भगवान की पूजा करते हुए में भी हम अपने ज्ञान पर बल दे तो मोह मिटेगा, पर अन्य उपायों से यह मोह नहीं मिट सकता है।

सद्विवेक—जब विवेक बनेगा तभी तो यह समझेगा कि यह हेय है और यह उपादेय है। जब तक विवेक नहीं जगता, तब तक मोह रागद्वेष की संतति चलती ही रहती है और उससे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन चारों गतियों में जन्म मरण करना ही पड़ता हे। वैसे कहाँ दुःख है, शारीरिक मानसिक कहाँ क्लेश है? इससे तो थोड़े ही खोटे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा इनको देखकर जाना जा सकता है कि संसार में कैसे क्लेश होते हैं, इन सब क्लेशो को सहता हुआ भी यह मोही जीव परद्रव्यों के मोह को नहीं त्यागना चाहता और उनसे विरक्त होकर अपने आप में वह नहीं आना चाहता है, यह दशा इस व्यामोही जीव की हो रही है कर्तव्य यह है विरक्त होकर अपने आप में वह नहीं आना चाहता है, यह दशा इस व्यामोही जीव की हो रही है। कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध करें और इस मोहपरिणाम को मिटा दे, जिससे इस ही समय क्लेशो का बोझ हट जाये, यही एक उपाय है इस मनुष्यजन्म को सफल करने का कि हम सच्चा बोध पायें और संकटो से छूटने का मार्ग प्राप्त करे।

श्लोक 47

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः।।४७।।

इष्ट का उपदेश—इस ग्रन्थ का नाम इष्टोपदेश है। जो इष्ट है उसका इसमें उपदेश किया है। कोई रोग में अनिष्ट चीज को इष्ट मान ले तो वह तो वास्तव में इष्ट नहीं है, ऐसे ही मोह रागद्वेष के रोगी विषय कषायों के ज्वर में पीड़ित ये प्राणी किसी भी वस्तु को इष्ट मान लें तो वे वास्तव में इष्ट तो न हो जायेंगे। जो जीव वास्तव में भला करें उसे इष्ट कहते हैं। इष्ट को इसमें उपदेश किया गया है।

आत्मनिर्णय—हम आप सब आत्मा है अर्थात् जानन देखनहार एक तत्त्व है। हमें जो कुछ निर्णय करना है वह आत्मतत्त्व के नाते निर्णय करना है। हम अपने को किसी जाति का, किसी कुल का न समझें यह तो दूर की बात है, हम अपने को मनुष्य भी न समझें किन्तु एक मनुष्य देह में आज बंध गया हूं, मनुष्य देह में बँधने

वाला यह पदार्थ एक जाननहार चैतन्यस्वरूप है। उस आत्मा के नाते निर्णय करें हित का। जहाँ अपने स्वरूप का नाता जोड़ा, फिर बाहर में ये मायामय स्कंध नजर आते। जब खुद में लगने का खुद विषय नहीं रहा तो बाह्य पदार्थों में यह लगता है और उन्हें अपनाता है।

कल्याणकामुक की धर्मविषयक एक मुसीबत—कभी इस मोही जीव को कुछ धर्मबुद्धि जगे, कुछ कल्याण के करने की कामना की हिलोर आए, भावना जगे तो उसके मुसीबत इसके प्रसंग में एक बहुत कठिन आती है। वह मुसीबत है नाना पथों की उलझन में पड़ जाना। यह मुसीबत आ रही है नाना रूप कल्पनाएँ करने के कारण। मैं अमुक हूं, मेरा धर्म यह है, मेरा देव यह है, मेरी गोष्ठी वातावरण यह है, इस प्रकार का बाह्य में एक आत्मा का बोध होता है और उस आशय से यह कल्याण से वंचित होता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि जो भी पुरुष अपना कल्याण कर सके हैं वे पुरुष जिस गोष्ठी में रहे हुए होते हैं, जिस जाति कुल अथवा प्रवृत्ति रूप धर्म को धारण करके मुक्त होते हैं वह व्यवहार धर्म पालन करने के योग्य है। ठीक है किन्तु दृष्टि में मुख्यता व्यवहार धर्म की जिसके रहे उसको मार्ग नहीं मिलता है। ये समस्त आचरण एक अवलम्बन मात्र है, करना क्या है, वह अपने अंतरंग में अपने आप सहज अनुभव की जाने वाली चीज है।

पर से दुःख और निज से सुख—अभी कुछ पूर्व में यह बताया गया था कि परपदार्थ तो पर ही है, उनसे दुःख होता है और अपना आप-आप ही है उससे सुख होता है, क्योंकि जो परपदार्थ है वे सदा मेरे निकट नहीं रह सकते हैं। जो परपदार्थ है वे अपनी ही परिणमनशीलता के कारण अपनी योग्यतानुसार परिणमेंगे, मेरी कल्पना से नहीं। ये दो मुख्य प्रतिकूलताएँ आती है इस कारण किसी पर से स्नेह करने मे सुख नहीं रहता ? लोक में भी कहते हैं कि अपना है सो अपना ही है, अर्थात जो खुद का घर है उसे कौन छुटा लेगा। उसमें रहना भला है। जो खुद के परिजन है वे कहाँ भाग जायेंगे, उनका विश्वास किया जा सकता है, किन्तु जो गैर है, जो पराधीन मकान है, दूसरे का है, उस पर स्नेह करना भला नहीं है। जरा और अपने हितमार्ग में अंतः टटोलकर निरखो। जो पर है, याने परिजन, धन सम्पदा आदि पर है, अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर जितने भी अनात्मपदार्थ है वे सब पर है, ये भिन्न है, इनका वियोग होगा, ये मेरी इच्छा के अनुकूल परिणमते हैं, इस कारण उनके स्नेह में सदा क्लेश रहता है और अपने आपका आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानस्वरूप जिस ज्ञान को हम जान रहे हैं उस ही ज्ञान का स्वरूप वह मुझ में कहाँ अलग होगा, वह अन्य भी नहीं है, माया रूप भी नहीं है, वह शाश्वत शक्ति है, परमार्थ है, मुझसे तन्मय है, उसका आश्रय लेने से नियम से आनन्द होगा क्योंकि यह मैं स्वयं आनन्दमय हूं और शाश्वत हूं।

आत्मपरिचय के मार्ग में—मैं मेरे को ही पहिचानूं तो उससे आनन्द मिलता है। इस कारण जो महात्मा जन होते हैं अर्थात् विवेकी ज्ञानी पुरुष होते हैं वे आत्मलाभ के लिए ही उद्यम किया करते हैं। इस आत्मलाभ में कौन सा अभीष्ट चमत्कार होता है? उसका वर्णन इस श्लोक में किया जा रहा है। आत्मा में किस उपाय से भोग

किया जायगा, किस तरह अनुष्ठान बनेगा, कैसे अध्यात्म वृत्ति बनेगी, उसके लिए प्रथम उपाय यह जीव करता है प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार का। कोई पुरुष जन्मते ही शुद्ध निश्चय अध्यात्म का परिज्ञान और प्रयोग करता हुआ नहीं आया। यह बात बने तब बने, किन्तु उससे पहिले क्या स्थितियां गुजरी, कितना व्यवहार किया, सत्संग, देवदर्शन, सदाचार, अध्ययन और कुछ मनन ध्यान का उद्योग आदि ये बहुत-बहुत प्रकार प्रवृत्तियां चलती रही। किसी दिन किसी क्षण जो कि एक नया दिन है समझना, आत्मा के लिए मिला। अपने सहज चित्स्वरूप की दृष्टि जगे तो आत्मा का परिचय मिले। लेकिन प्रथम तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का व्यवहार ही चला करता है। अब जब आनन्दमय निज अंतस्तत्त्व का आश्रय हो तब उसके व्यवहार की स्थिति नहीं रही अब वह न कही प्रवृत्ति करता है और न कही निवृत्ति करता है। लोग अध्यात्म योग के अर्थ की गई विभिन्न परिस्थितियों में साधनाओं के मर्म को न जानकर कितने ही संदेह करने लगते हैं और कुछ नहीं करना चाहते। न पूजन, न ध्यान, न सत्संग। वे यह कहने की उलायत मचाते हैं कि ये पूजनादिक सब तो व्यवहार बताये गये हैं, इनसे भी अलग होकर धर्म मिलता है। ठीक है यह, किन्तु समर्थ स्थिति में ही प्रवृत्ति निवृत्ति का व्यवहार छूटता है। अपने भीतर के तत्त्व को न जान पाये और बहारों प्रवृतियों के ही कोई मार्ग निरखे तो उससे केवल धोखा ही होगा।

परिस्थिति की विभिन्नता पर कथानक—एक उपन्यास है जिसका नाम गधा है। गधा की कहानी है पहिले बहुत चलती थी, विद्यार्थी जीवन में हमने सुनी थी। एक घटना है, धोबी के यहां एक गधा था और कुतिया भी थी। कुतिया के बच्चे हुए। एक दिन वह धोबी कुतिया के बच्चों को खिला रहा था। वे बच्चे मुख से भी काटें और पञ्जों से भी मारें, पर धोबी प्रसन्न होकर उन्हें खिला रहा था। गधा सोचने लगा कि कितना तो मैं इसके काम आता, इसके सब लोगों का हमारे ही कारण गुजारा चलता है फिर भी हमसे प्यार नहीं करता और ये कुतिया के बच्चे इसके कुछ काम भी नहीं आते, फिर भी यह कितना प्यार करता है? ओह मुझे मालूम पड़ता है कि ये पैरों से भी मारते और दांतों से भी काटते, इसी से यह उनसे प्रेम करता है। सो एक बार हम भी ऐसा ही प्रयोग करके देखें तो हमसे भी यह प्रेम करने लगेगा। तो अपना गिरवां तोड़कर मालिक को खुश करने के लिए उसके पास पहुंचा और दुलतियां जड़ने लगा व थोड़ा काटा भी। उस धोबी ने डंडा उठाया और खूब पीटा। गधा अपनी खूंटी के पास फिर आ गया और सोचता है कि जो काम इन बच्चों ने किया वही काम तो मैंने किया, गलती कहां खायी? मैं क्यों पीटा? अरे सबकी परिस्थिति एक सी नहीं होती है। उन पिल्लों की बात निरखकर गधा भी नकल करने लगे तो उसे तो डंडे ही मिलेंगे।

विवेक की दशा—भैया ! किसी ज्ञानी की बाहरी वृत्ति को निरखकर ज्ञान मर्म से अनभिज्ञ पुरुष बाह्य प्रवृत्ति को करके कही संतोष का मार्ग न पा लेगा। मुक्ति का मार्ग, शान्ति का मार्ग जो अंतरंग ज्ञानप्रकाश में है। और

उसको थोड़े ही शब्दों में कहना चाहें तो यह कह लें कि समस्त पर से न्यारा केवल ज्ञानमात्र यह मैं आत्मतत्त्व हूं। जो ज्ञान और आनन्द रस से परिपूर्ण है ऐसा ज्ञान करें, श्रद्धान करें और ऐसा ही अपना संकल्प बना ले कि मुझे अब इस आनन्दधाम से हटकर कही बाहर में नहीं लगना है। कदाचित् लगना भी पड़े तो उसकी स्थिति सेठ के मुनीम जैसी बने। जैसे मुनीम सारे कामों मे लग रहा है। रोकड़ सम्हाले, बैंक का हिसाब रक्खे, और कोई ग्राहक आये उसे हिसाब बताना पड़े तो यह भी कह देता है कि मेरा तुम पर इतना गया, तुम्हारा हम पर इतना आया, इतने सब व्यवहार करके भी मुनीम की श्रद्धा में दोष नहीं है। वह जान रहा है कि मेरा यह वर्तमान परिस्थिति में करने का काम है। कर रहे हैं किन्तु मेरा कुछ नहीं है। तो कुछ करना भी पड़े और अपनी ही और झुकाव रहे तो अपनी रक्षा है। कोई किसी की रक्षा न कर सकेगा।

मोह, राग द्वेष में अकल्याण—भैया ! किसी में मोह रागद्वेष करने का परिणाम भला नहीं है। किसमें मोह करते हो? कौन तुम्हारा कुछ सुधार कर देगा? यदि कोई शाश्वत आनन्द पहुंचा दे तो मोह करो, किन्तु कौन ऐसा कर सकता है? आनन्दमय करने की बात तो दूर रहो, यह दृश्यमान समागम तो केवल क्लेश का ही कारण है। यह परिजनों का जो समागम हुआ है वह प्रकट भिन्न और असार है, किसमें राग करना? कोई पुरुष मेरा विरोधी नहीं है ऐसा निर्णय करके यह भी भावना बनाओ कि मुझे किसी में द्वेष भी नहीं करना है। जो भी पुरुष जो भी चेष्टा करता है उसके भी दिल है, उसमें भी अपने प्रयोजन की चाह है, उसके भी कषायों की वेदना है, वह अपने कषाय की वेदना को शान्त करने का उद्यम कर रहा है, वह अपने अभीष्ट स्वार्थ को सिद्ध करने का उद्योग कर रहा है। इसके लगा हो अपना स्वार्थ और वहाँ जंचे बाधा, तो इसने कल्पना कर ली कि उसने मुझे कष्ट दिया, इसने नुकसान पहुंचाया। उस बेचारे ने अपने आप में अपना काम करने के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं किया, किसे द्वेषी माना जाय? इस जगत में कोई मेरा विरोधी नहीं है, इस दृष्टि से जरा निहार तो लो। किसी को विरोधी मान-मानकर कोई काम बना पाता हो तो बतलावों। अरे विरोध को मिटाना है तो उसका मिटाना अत्यन्त सुगम है। विरोधी न मानकर उसे सद्व्यवहारी मान लो, विरोध एकदम खत्म हो जायगा, अर्थात् जब विरोध भाव नहीं रहा तो जिसका विरोधी नाम रखा था वह मित्र बन जायगा।

वस्तुस्वरूप का दृढ़तम दुर्ग—यह वस्तुस्वरूप का दुर्ग बड़ा मजबूत है। किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का न द्रव्य, न स्वभाव, न गुण, न पर्याय कुछ प्रवेश नहीं करता है। बड़े-बड़े रासायनिक, वैज्ञानिक प्रयोग भी कर लें तो वहाँ भी आप मूल बात पायेंगे की जो मूल सत् है वह पदार्थ न किसी दूसरे रूप होता है और न उसका कभी अभाव होता है। यह बात अवश्य चलती है कि किसी पदार्थ के संयोग का निमित्त पाकर दूसरे पदार्थ भी दूसरे के अनुरूप परिणमते हैं। इस ही को व्यवहार में लोक कहते हैं। देखो यह भी बन गया। जो यह है वह यह ही रहेगा। जो वह है वह-वह ही रहेगा। केवल निमित्तनैमित्तिक प्रसंग में निमित्त के सद्भाव के अनुरूप पर्याय बन जाती है। जगत में जितने भी सत् है उनमें से न कोई एक कम हो सकता है और न कोई असत् सत् बन

सकता है, केवल एक पर्याय ही बदलती रहती है। जितने भी पदार्थ है वे सब परिवर्तनशील होते हैं, पर मूल सत्त्व को कोई पदार्थ नहीं छोड़ता है। यह मैं आत्मा स्वयं सत् हूं और किसी भी पररूप नहीं हूं।

योगी का ज्ञान, समाधिबल व आनन्दविकास—ये सकल पदार्थ अपना सत्त्व तभी रख सकते हैं जब त्रिकाल भी कोई किसी दूसरे रूप न परिणमन जाये। ये दो अंगुली है एक छोटी और एक बड़ी। ये अपना सत्त्व तभी रख सकती है जब एक किसी दूसरे रूप न परिणम जाये। अंगुली का दृष्टान्त बिल्कुल मोटा है क्योंकि यह परमार्थ पदार्थ नहीं है। यह भी मायारूप है, किन्तु जो परमार्थ सत् है वह कभी किसी दूसरे रूप हो ही नहीं सकता है। जब ऐसा समस्त पदार्थों का स्वरूप है तब मैं किसके लिए मोह करूं, किसके लिए राग और द्वेष करूँ? परोपयोग के व्यर्थ अनर्थ श्रम से विश्राम लेकर जो अपने आत्मा में ठहरता है, सहज विश्राम लेता है ऐसे योगी पुरुष इस समाधिबल से कोई विचित्र अलौकिक अनुपम आनन्द प्रकट होता है।

विषयविपदा—भैया ! ये विषयों के सुख कोई आनन्द है क्या? इनमें तो दुःख ही भरा हुआ है। जितने काल कोई भोजन कर रहा है उतने काल भी वह शान्त नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से देखो—इन विषयों के सुख में जो भी कल्पना उठती है वह शान्ति की प्रेरणा को पाकर नहीं उठती है, किन्तु अशान्ति की प्रेरणा को पाकर उठती है, कोई भी विषयभोग, किसी भी इन्द्रिय का साधन न पहिले शान्ति करता है, न भोगते समय शान्ति देता है और न भोगने पर शान्ति देता है। जिन भोगो के पूर्व वर्तमान और भविष्य अवस्था क्लेशरूप है उन ही भोगों के लिए अज्ञानी पुरुष अपना सब कुछ न्योछावर किये जा रहे हैं आनंद यहाँ कही न मिलेगा। अरे एक दिन ये सब कुछ छोड़कर चले जाना है। जिस समय है उस समय भी ये तेरे कुछ नहीं है। तू सबसे विविक्त प्रत्यक्ष ज्योतिस्वरूप अपने अंतस्तत्त्व का अनुभव करे। यही धर्म पालन है।

अध्यात्मयोग—जो पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार से मुक्त होकर आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ होते हैं अर्थात् अध्यात्म में अपने उपयोग को जोड़ते हैं उनके उससे अलौकिक आनन्द होता है। योगी का अर्थ है जोड़ने वाला। यहाँ हिसाब में भी तो योग शब्द बोलते हैं। कितना योग हुआ अर्थात् दो को मिलाकर एक रस कर दे इसी के मायने तो योग है। चार और चार मिलाकर कितना योग हुआ? आठ। अब इस आठ में पृथक-पृथक चार नहीं रहे। वह सब एक रस बनकर एक अष्टक बन गया है। इस प्रकार ज्ञान करने वाला यह उपयोग और जिसका ज्ञान किया जा रहा है ऐसे उपयोग की ही आधारभूत शाश्वत शक्ति इस शक्ति में इस व्यक्ति का योग कर दो। अर्थात् न तो व्यक्ति को अलग बता सकें और न शक्ति को अलग बता सकें, किन्तु एक रस बन जाय इस ही को कहते हैं अध्यात्मयोग।

निज में ही निज के योग की संभवता—भैया ! गलत योग नहीं कर लेना, परपदार्थ में अपने उपयोग को जोड़कर एकमेक करने का गलत हिसाब नहीं लगाना है। गलत हिसाब लग भी नहीं सकता है। किसी भी

परपदार्थ में अपने उपयोग को जोड़े तो कितना ही कुछ कर डाले, जुड़ ही नहीं सकता। भले ही कल्पना से मान लो गलत हिसाब को कि मैंने सही किया, पर वहाँ जुड़ ही नहीं सकता। पर के प्रदेश भिन्न है, पर में है, अपने प्रदेश भिन्न है, अपने में है। इस शक्ति का और इस उपयोग का योग जुड़ सकता है, क्योंकि यह भी एक चैतन्यमय है और यह अंतस्तत्त्व भी चैतन्यस्वरूप है। जैसे समुद्र और समुद्र की लहर का समुद्र मे योग हो सकता है क्योंकि लहर भी समुद्ररूप है और समुद्र तो समुद्र ही है, इस ही प्रकार इस उपयोग का इस परमब्रह्म में योग हो सकता है, ऐसा योग जिनके होता है। उन योगी पुरूषों के कोई अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है।

आत्मकर्तव्य—जब तक दृश्यमान बाह्यपदार्थ मे किञ्चित् मात्र भी ममता रहती है तब तक स्वरूप में लीनता नहीं हो सकती है, किन्तु जब अध्यात्मयोगी की किसी भी बाह्य तत्त्व में कोई ममता नहीं रहती तो वह स्वरूप में लीन होता है। यही स्वरूपलीनता परम तत्त्व की प्राप्ति का कारण है। यह चीज होगी रागद्वेष के अभाव से। रागद्वेष मिटेंगे वस्तुस्वरूप के यर्थाथ ज्ञान से। इस कारण वस्तुस्वरूप के यथार्थज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। जो अनुभव में उतरे, जो यथार्थ ज्ञान है उस ज्ञान का अर्जन करे। वह गुरु कृपा बिना नहीं हो सकता। यदि साक्षात् गुरु न मिले कभी तो ये ग्रन्थ भी गुरु ही है? क्योंकि वे जो बोलते थे वह सब यहाँ अक्षरों रूप में है। इस प्रकार स्वाध्याय और सत्संग करके अपने ज्ञानार्जन का उद्यम करे, यह ही अपने कल्याण का उपाय है।

श्लोक 48

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।

न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः।।४८।।

आत्मोत्थ शुद्ध आनन्द का परिणाम—पूर्व श्लोकों में यह कहा गया था कि जो योगी न तो प्रवृत्ति रूप व्यवहार कर रहा है और न निवृत्ति रूप भी व्यवहार कर रहा है इन दोनों व्यवहार से ऊपर स्वरक्षित होकर जब आत्मा के उपयोग में उपयुक्त होता है उस समय इस अपूर्व योग के प्रसाद से उस योगी के अपूर्व आनन्द प्रकट होता है। अब श्लोक में यह कहा जा रहा है कि उस आनन्द का फल क्या मिलता है आनन्द भव-भव के बाँधे हुए प्रबल कर्मरूपी ईधन को जला डालता है। जैसे ईधन कितने ही दिनों से ढेर करके संचित किया जाय, उस समस्त ईधन को जलाने में अग्नि समर्थ है इस ही प्रकार विकल्पों से जितने भी कर्म बंधन संचित किये हैं उन कर्मों को नष्ट करने यह योगी का आनन्द समर्थ है।

अध्यात्मयोग की आनन्दमग्नता से कर्मप्रक्षय—भैया ! बाह्य में साधुजनों की तपस्या काय क्लेशरूप दिखती है लोगों को कि ये बहुत उपवास करते हैं, एक बार भोजन पान करते हैं आदि कितनी कठिन विपत्तियाँ सहते है? लोगों को दिखता है कि ये कष्ट सह रहें हे पर वे कष्ट सह रहे हो तो उनके कर्म नष्ट नहीं हो सकते। वे तो किसी अपूर्व आनन्द में मग्न हो रहे हैं जिस आनन्द के द्वारा वे कर्म नष्ट हो जाते हैं, जो हम आपके आत्मा में

चिरकाल से बंधे है। कर्म शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालो। कर्म शब्द के दो अर्थ है एक तो जो आत्मा के द्वारा किया जाय उसका नाम कर्म (भाव कर्म) है। दूसरे इस कर्म के निमित्त से जो कार्माणवर्गणा कर्मरूप होती वह कर्म है।

भावकर्म और द्रव्यकर्म—यह जीव जो कुछ भी करता है, उसका नाम कर्म है। जैसे रागद्वेष विकल्प संकल्प मोह ये सब कर्म कहलाते हैं, इसका नाम भावकर्म है। भावकर्म तो जिस समय किया उस ही समय रहा, बाद में नही रहते। क्योंकि भावकर्म जीव के एक समय की परिणति है, और उपयोग में आने की दृष्टि में अन्तर्मुहूर्त की परिणति है। वह परिणति दूसरे क्षण नही रहती। दूसरे क्षण अन्य रागद्वेष मोह उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक जीव के जिस समय रागद्वेष होता है वैसा परिणमन दूसरे क्षण नही रहता। इस कारण भावकर्म तो अगले क्षण नही रहते, नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, किन्तु उस नवीन क्षणिक भाव के कारण जो कर्म बनते हैं, ज्ञानावरणादिक कर्म बनते हैं उनमें कितने ही कर्म अनगिनते अरबों, खरबों वर्ष तक इसके साथ रहते हैं, और वे उतने वर्षो तक जीव को सताने के कारण बन रहे हैं। एक क्षण की गल्ती से अरबो खरबो वर्ष तक जीव को कष्ट सहना पड़ता है।

कर्मस्थिति का समर्थन—जैसे कोई पुरुष रसना इन्द्रियाँ के स्वाद में आकर किसी हानिकारक चीज को खा जाय तो खाने में भोगने में कितना समय लगा? दो तीन मिनट का, किन्तु उससे जो दर्द बनेगा, रोग बनेगा वह भोगना पड़ेगा घंटों । ऐसे ही रागद्वेष करना तो आसान है, स्वच्छन्दता है, जो मन मे आए सो कर लो, पुण्य का उदय है। जिस चाहे को सताकर अपने मन को खुश कर लो, जिस स्त्री या पुरुष के प्रति कामवासना उत्पन्न हो, और-और भी पाप कार्य कर लो, केवल एक दो मिनट ही तो वह पाप कार्य करता है किन्तु उन पापों के करने के कारण जो द्रव्यकर्म बंधे है वे जीव के साथ अनगिनते वर्ष तक रहेंगे।

क्षणिक गलती से असंख्याते वर्षों तक क्लेश भोग—आगम में बताया गया है कि कोई मन वाला पुरुष जिसके विशेष समझ उत्पन्न हुई है वह मोह करेगा, गड़बड़ी करेगा तो उस तीव्र मोह में ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक के लिए कर्म बँध जाते हैं। अभी बतावेंगे कि कोड़ा-कोड़ी सागर क्या चीज होती है। कर्म इस लोक में बहुत सूक्ष्म कार्माण मैटर है। वह कार्माण स्कंध के नाम से प्रसिद्ध है।वह सब जगह भरा है, और इस मोही मलिन जीव के साथ तो बहुत सा सूक्ष्म मैटर साथ लगा रहता है जो इसके लिए सदा तैयार है। यह जीव कुछ मलिन परिणाम तो करे कि कर्म रूप बन जायेगें, जिसे विस्रसोपचय कहते हैं। ये कर्म रूप बनेंगे तो ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक के लिए भी बँध जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ वर्षों के बाद वे कर्म जब उदय में आतें है तो अनगिनतें वर्षों तक उदय में आ आकर इस जीव को क्लेश के कारण बनते हैं।

सागर का प्रमाण—सागर का समय बहुत लम्बा समय है। यह गिनती में नही बताया जा सकता है। जिस चीज को गिनती में बताया ही न जा सके उसको किसी उपमा द्वारा बताया जायगा। कल्पना करो कि २ हजार कोश का कोई लम्बा चौड़ा गड्ढा है। सब कल्पना पर बात चलेगी, न कोई ऐसा कर सकता है। न किया जा सकेगा। पंरतु इतना लम्बा समय कितना है इसका परिज्ञान करने के लिए एक उपमारूप में बताया गया है। उस विशाल गड्ढे में छोटे-छोटे रोम खण्ड जिनका दूसरा खण्ड किया न जा सके, भर दिया जाय ठसकर और मानो उस पर हाथी फिरा दिया जाय, फिर उन बालो को सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक टुकड़ी निकाला जाय, सब यह उपमा की बात है, जितने वर्षों में वे सब बाल निकल सकेंगे उसका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यातगुणा समय लगता है उद्धारपल्य में, उससे असंख्यात गुणा समय लगता है अद्धापल्य में। एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा करें उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी पल्यों का एक सागर बनता है। एक सागर में एक करोड़ सागर का गुणा करो तब तक कोड़ाकोड़ी सागर होता है। यों ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक ये द्रव्यकर्म इस जीव को जकड़ डालते हैं।

दुर्लभ मनुष्यजन्म का अवसर—यह मनुष्य कैसी-कैसी कुयोनियों को भोग-भोगकर आज प्राप्त किया है। जरा दृष्टि तो डालो—अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य जीवन कितना श्रेष्ठ है। वृक्ष, पृथ्वी, इन जीवों की जिन्दगी क्या जिन्दगी है? कीड़ा मकोड़ा भी क्या मूल्य रखते हैं लोग जूतों से कुचलते हुए चले जाते हैं, उनका कुछ भी मूल्य नही समझते। पशु पक्षी भी बन जाय तो भी क्या है, अक्षर नही बोल सकते। दूसरे की बात नही समझते। अटपट उनका भोजन, कैसी उनकी आकृति? परंतु मनुष्य को देखो यह विवेक कर सके, सब पर हुकूमत कर सके, बड़े-बड़े साहित्य रच सके, एक दूसरे के हृदय की बात समझ सके, कितने विकास वाला यह मनुष्य जीवन है? इतना विकास पाने के बाद यदि विषयकषाय पापों में ही अपना समय गंवाया तो उसका फल यह होगा कि जिन कुयोनियों से निकलकर मनुष्य पर्याय में आये हैं उन ही कुयोनियों में जन्म लेना पड़ेगा।

आत्मप्रभु पर अन्याय के दुष्परिणाम का दृष्टान्तपूर्वक प्रदर्शन—एक साधु था। उसके पास एक चूहा बैठा रहा करता था। चूहा को साधु का विश्वास रहा करे सो वहाँ बैठ जाया करे। एक बार कोई बिलाव उस चूहे पर झपटा तो साधु ने आशीर्वाद दिया चूहे को कि विडालों भव, तू भी बिलाव हो जा, सो वह चूहा भी बिलाव हो गया, उस पर झपटा एक कुत्ता तो साधु ने आशीर्वाद दिया कि श्वानो भव। तू भी कुत्ता बन जा, सो वह कुत्ता हो गया। अब उस पर झपटा एक तेदुवा (व्याघ्र)। तो साधु ने आशीर्वाद दिया कि व्याघ्रो भव। तू व्याघ्र हो जा। सो वह कुत्ता भी व्याघ्र हो गया। उस पर झपटा एक शेर। सो साधु ने आशीर्वाद दिया कि सिंहो भव। तू सिंह बन जा। वह भी सिंह बन गया। अब उसे लगी भूख, सो उसने सोचा कि क्या खाना चाहिए? ध्यान आया कि अरे ये ही साधु महाराज तो बैठे है, इन्हीं को खाकर पेट भर लेना चाहिए। सो ज्यों ही साधु को खाने का संकल्प किया और कुछ उद्यम करना चाहा त्यों ही साधु ने आशीर्वाद दिया कि पुनः मूषको भव, तू फिर चूहा

बन जा, वह फिर चूहा बन गया। अरे कितना उठकर सिंह बन गया और जरा सी गफलत में चूहा बनना पड़ा। ऐसे ही हम आपके भीतर विराजमान जो कारणपरमात्मतत्त्व है, परमब्रह्म स्वरूप है, विशुद्ध समयसार है, ज्ञानानन्द स्वभाव है उसका आशीर्वाद मिला, कुछ विकास बना तो यह स्थावरों से उठकर कीड़ा मकोड़ा बना, उससे भी और बढ़कर पशु पक्षी बना, वहाँ से भी उठकर अब यह मनुष्य बना। अब मनुष्य बनकर इस परमब्रह्मस्वरूप पर, इस कारणपरमात्मतत्त्व पर हमला करने की ठान रहा है।

आत्मदेव पर मनुष्य का अन्याय—जो मनुष्य विषय भोगता है, कषायों में प्रवृत्त होता है, मोह रागद्वेष को अपनाता है वह इस प्रभु पर ही तो अन्याय कर रहा है। जिस प्रभु के आशीर्वाद से, प्रभु के प्रसाद से जघन्य योनियों से निकलकर मनुष्य जैसे उत्तम पद में आए है, तो अब यह मनुष्य कैसी कलावों से विषयों का सेवन कर रहा है, यह कभी बैल, घोड़ा, गघा था। ये कलापूर्वक कुछ विषयसेवन नही कर पाते हैं और मनुष्य को योग्यता विशेष नही मिली ना, सो बढ़िया, साहित्यिक ढंग से बढ़िया रागभरी कविताएँ बनाकर कितनी कलावों से यह विषय भोग रहा है और कितना प्रसार कर रहा है? सब जीवों से अधिक अन्याय कर सकने वाला यह मनुष्य है, यह अपने आपके प्रभु पर अन्याय कर रहा है। यह जीव आनादि से निगोद अवस्था में था। निगोद कहते हैं, पेड़ और पृथ्वी से भी खराब योनि को। एक शरीर के अनन्त जीव स्वामी है। कितनी कलुषित निगोद की योनि है? वहाँ से निकलकर धीरे-धीरे विकास करके यह मनुष्य बना और अब यह अपने आश्रयभूत इस परमात्मप्रभु पर हमला करने लगा, विषय कषायों का परिणमन करने लगा, यही तो प्रभु पर अन्याय है। तो इस प्रभु ने भीतर से फिर आशीर्वाद दिया कि पुनः निगोदो भव। तू फिर से निगोद बन जा। तो मनुष्य जैसी उत्कृष्ट योनि पाकर फिर निगोद बन जाता है। ऐसे ये विकट कर्म बंधन है।

धर्म का आनन्द और कर्मक्षय—इन विकट कर्म ईधनों को जलाने में समर्थ शुद्ध आनन्द है, कष्ट नही है। धर्म कष्ट के लिए नही होता। धर्म कष्ट पूर्वक नही होता। धर्म करते हुए में कष्ट नही होता। कोई पुरुष जो यथार्थ धर्मात्मा है वह धर्म करने की भावना कर रहा हो तो वह प्रसन्नता और आनन्दपूर्वक ही कर सकेगा, कष्ट में नही जिस काल में धर्म किया जा रहा है उस काल में भी कष्ट नही हो सकता है, वहाँ भी आनन्द ही झर रहा होगा और धर्म करने के फल में उसे आनन्द ही मिलेगा। आनन्द में ही सामर्थ्य है कि भव-भव से संचित कर्मों को क्षणमात्र में जला सकता है। ''कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे ! ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति हैं सहज टरेंते।'' अज्ञानी पुरुष बड़ी-बड़ी तपस्या करके करोड़ों भवों में जितने कर्म जला सकते हैं उतने कर्मों को ज्ञानी एक क्षण में ज्ञानबल से नष्ट कर देता है। इस मनुष्य-जीवन का सुन्दर फल प्राप्त करना हो तो एक निर्णय बना लो कि हमें ज्ञानप्रकाश का आनन्द लूटना है। घर में चार छः जन है ना, सो उनका कुछ ख्याल रहता है, तो उनको भी धर्म के रंग मे ऐसा रंग दो कि वे सब भी धर्मी बन जायें मोह रागद्वेष की फिर पद्धति न रहेगी। उनका भी भला करवा दो और अपना भी भला कर लो। दूसरे का भला करना अपने आधीन तो है नही लेकिन

सम्बंध है तो व्यवहार ऐसा करो कि उनमें भी धर्मभावना जाग्रत हो, और एक ज्ञानप्रकाश के लिए ही मनुष्य जीवन समझो।

धर्मपथ—भैया ! आत्मा के हित का पंथ निराला है और दुनियादारी का पंथ निराला है। कोई मनुष्य चाहे कि मैं दुनिया का आनन्द भी लूट लूँ और साथ ही आत्मा का हित भी कर लूँ तो ये दोनों बातें एक साथ नही मिलती है। निर्णय कर लो कि तुम्हें क्या प्यारा है? देखो दुनिया में अपना नाम कर जाने की धुन बनाना, धनसंचय की भावना बनाना, देश के लिए मर जाना, इनसे भी ज्ञानभावना प्रकट नही होती है। इस धर्मी को समूचे देश से अथवा धन वैभव से क्या मिलेगा? कुछ भी तो न मिलेगा। यह परोपकार के लिए नही है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने को ज्ञान में, ध्यान में लीन होने में असमर्थ समझ रहा है जब तक तब तक विषय किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने को ज्ञान, ध्यान में लीन होने में असमर्थ समझ रहा है जब तक तब तक विषय कषाय जैसे गंदे परिणाम मेरे मे घर न कर पायें उनसे बचने के लिए परका उपकार है। जो केवल पर के लिए ही पर का उपकार समझते हैं वे धर्म से भी गये और धन से भी गए, और श्रम कर करके तकलीफ भी भोगी, और जो परोपकार का अंतः मर्म समझते हैं उनसे परोपकार भी वास्तविक मायने में हुआ, स्वयं भी प्रसन्न रह गया। मोक्षमार्ग भी, धर्मपालन भी साथ-साथ चला।

अध्यात्मयोगी के संकटों मे खेद का अभाव—वह योगी पुरुष अपनी ध्यानसाधना में रहकर जिन संकटों को सामना कर रहा है उन्हे यह कष्ट नही समझता। लोग समझते हैं कि संकट आ रहे हैं लेकिन वह उन दुःखों को दुख नही समझ रहा है। वह तो अपने अनादिकाल से बिछुड़े हुए परमपिता, परमशराण चिदानन्दात्मक प्रभुता का दर्शन मिला, उस आनन्द में यह मग्न हो रहा है, और इस शुद्ध आनन्द का ही प्रताप है कि भव-भव के संचित कर्म उसके क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं, उसे खेद नही होता। खेद करने से खोटे कर्मों का बंध होता है। प्रसन्नता तो तब मिल सकती है जब इन बाह्यपदार्थों मे मोह ममता का सम्पर्क न बढाये, ज्ञाताद्रष्टा रहे, जो कुछ बाह्य में होता है उसके जाननहार रहे।

दुनिया के अजायबघर में निःसंकट रहने का उपाय—यह दुनिया अजायबघर है, अजायबघर में दर्शकों को केवल देखने की इजाजत है, छूने की या कुछ जेब में धरने की इजाजत नही है। यदि कोई आज्ञा विरुद्ध काम करेगा तो वह गिरफ्तार हो जायगा, ऐसे ही ये सर्वसमागम अजायबघर है, परमार्थ नही है, इनको देखने की इजाजत है ईमानदारी से। छूने की इजाजत, अपनाने की इजाजत नही है। जो किसी भी अनात्मतत्त्व को अपनायेगा वह बंधन में पड़ेगा और अनेक भवों तक उसे कष्ट भोगना होगा। सब जीव है, एक समान है, उनमें से किसी एक दो को ही अंतरंग में पकड़कर रह जाना है, इसका क्या फल मिलेगा? सो यह बिलबिलाता दृश्यमान जीवलोक ही प्रमाण है। अब तो ऐसा अंतः पुरुषार्थ बनायें और अपने आपके स्वरूप में रमने का यत्न

करें जिससे संकटों का समूल विनाश है। इसके लिए सत्संगति, ज्ञानार्जन, परोपकार सब कुछ उपाय करे। आत्मदृष्टि से ही हमारे संकट दूर हो सकेंगे।

श्लोक 49

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।४९।।

आत्महितकर परमज्योति—आत्मा का परमहित करने वाला परमशरण तत्त्व क्या है? इस संबंध में बहुत पूर्व प्रसंग से वर्णन चल रहा है। आत्मा का हित आत्मतत्त्व के सहज ज्ञानज्योति के अवलम्बन में ही है वही जिन आत्माओं को इष्ट हो जाता है। उसका कल्याण होता है, किन्तु जो व्यामोही पुरुष केवल परिजन सम्पदा को ही इष्ट मान पाते हैं रात दिवस उन ही परिजनों की चिन्ता में समय खो दिया करते हैं उनका शरण इस लोक में कोई नही है। शरण तो किसी का कोई दूसरा हो ही नही सकता, हम ही हमारे शरण है। तब शरण होने की पद्धति से खुद में खुद का अनुभव किया जाय। यह ज्ञानज्योति यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप जो निर्विकल्प स्थिति करके अनुभवों में आ सकने योग्य है यह ज्ञानज्योति समस्त चाह का भेदन कर देने वाली है। जैसे सूर्य प्रकाश गहन अंधकार को भी भेद देता है इस ही प्रकार ज्ञानज्योति भ्रम के गहन अंधकार को भेद देती है।

अज्ञानान्धकार और उसका भेदन—भैया ! कितना बड़ा अंधेरा है यहाँ कि है तो मेरा परमाणु मात्र भी कुछ नही और उपयोग ऐसा पर की और दौड़ गया है कि परिजन और सम्पदा को यह अपना सर्वस्व मानता है। यह विचित्र गहन अंधकार है। सर्व पदार्थ विमुक्त हो जायेगें, इस पर अज्ञानी घुटने टेक देते हैं। जीवनभर कितने ही काम कर जाय अर्थात् कितनी ही धन सम्पदा निकट आ जाय, पर एक नियम सब पर एक समान लागू है। वह क्या कि सब कुछ छूट जायगा। इस व्यामोही जीवन ने यहाँ घुटने टेक दिये। वहाँ तो अज्ञान की प्रेरणा से रात दिवस खोटे-खोटे कार्यों में ही जुट रहे हैं लेकिन यहाँ वश नही चलता, और इसी कारण अज्ञानी मोहियों के दिमाग भी कभी-कभी सुधार पर आ जाया करते हैं। यह ज्ञानप्रकाश अज्ञान अंधकार को नष्ट करने वाला है। यह ज्ञानस्वरूप खुद का भी प्रकाश करता है और दूसरों का भी प्रकाश करता है। खुद ज्ञानस्वरूप है इसलिए खुद ज्ञान का प्रकाश कर ही रहा है, किन्तु इस ज्ञान में ये समस्त परपदार्थ भी आते हैं, उनका भी प्रकाश है। यह उत्कृष्ट ज्ञानरूप है।

भेदविज्ञान से स्वातन्त्र्यपरिचय—वस्तु में पूर्ण स्वतंत्रता भरी हुई है, इसका जिस ज्ञानी को परिचय हो जाता है वह सम्यग्ज्ञान पर न्यौछावर हो जाता है। लोग कहा करते हैं कि मकान बनाया, दुकान बनाया, यह बात तो बिल्कुल विपरीत है। यह मनुष्य कहाँ ईंट पत्थर को बनाता है। ईंट पत्थर में अपना कुछ लगा दिया हो ऐसा तो कुछ नजर नही आता है। अब इससे और कुछ गहरे चलें तो यह कह देते हैं कि मकान दूकान तो नही

बनाता है जीव किन्तु अपने-अपने पैरों को चलाता है। यह भी बात विपरीत है। आत्मा के हाथ पैर ही नही है। वह तो एक ज्ञानप्रकाश है, आकाश की तरह अमूर्त और निर्लेप है, यह हाथ भी नही चलाता है, पैर और जिह्वा भी नही चलाता है। ये क्रियापरिणत हो जाते हैं निमित्तनैमित्तक संबंध से। इस बात का भी ख्याल रहा तो बतावेंगे। अब आगे और चलें तो यह ध्यान में आता कि आत्मा हाथ पैर भी नही चलाता है किन्तु रागद्वेष की कल्पनाओं को तो करता है, यहाँ भी विवेक बनाये। आत्मा है ज्ञानस्वरूप । आत्मा में रागद्वेष विकार करने का स्वभावतः कर्तृत्व नही है। ये रागादिक हो जाते हैं, इन्हे आत्मा करता नही है।

दृष्टान्तपूर्वक वस्तुस्वरूप का परिचय—वस्तु का स्वतन्त्र परिणमन समझने के लिए एक दृष्टान्त लो—दर्पण सामने है, उस दर्पण में सामने खड़े हुए दसों लड़कों के प्रतिबिम्ब आ गए है। यद्यपि वह प्रतिबिम्ब दर्पण में हैं लेकिन दर्पण तो अपने में अपनी स्वच्छता की वृत्ति बना रहा है। ऐसे ही इस आत्मा में रागद्वेषों के परिणमन आ गए है, इस आत्मा ने रागद्वेषों को पैदा नही किया है। यह आत्मा रागद्वेषों का भी कर्ता नही है। इस समय बात अध्यात्ममर्म की बात चल रही है और चलेगी, लेकिन ध्यान से सुनने पर सब सरल हो जायगा हाँ इन रागद्वेषों का भी करने वाला यह आत्मा नही है।

निज में निज का परिणमन—अब कुछ और आगे चलकर यह समझ रहा है जीव कि यह रागद्वेष का करने वाला तो है नही, किन्तु यह चौकी को, पुस्तक को, जितनी भी वस्तुऐ सामने आयी है उन सबको जानता तो है। अपने आत्मा को तके जरा, यह कितने बड़ा है, कितनी जगह में फैला है, कैसा स्वरूप है? तब ध्यान में आयगा कि यह जो कुछ कर पाता है अपने प्रदेशों में कर पाता है, बाहर कुछ नही करता है। तब आत्मा में एक ज्ञानगुण है, इस ज्ञानगुण का जो भी काम हो रहा है वह आत्मा में ही हो रहा है, अतः इस आत्मा ने आत्मा को ही जाना, किन्तु ऐसा अलौकिक चमत्कार है इस ज्ञानप्रकाश में कि ज्ञान जानता तो है अपने आपको ही किन्तु झलक जाता है यह सारा पदार्थ समूह। जैसे हम कभी दर्पण को हाथ में लेकर देख तो रहे हैं, केवल दर्पण को, पर पीछे खड़े हुए लड़कों की सारी करामातों को बताते जाते हैं तो जैसे दर्पण को देखकर पीछे खड़े हुए सारे लड़कों की करामात बताते जाते हैं इसी तरह हम आप पदार्थो को जान नही रहें है किन्तु इन पदार्थों के अनुरूप प्रतिबिम्बित हम अपने ज्ञानस्वरूप को जान रहे हैं और इस अपने आप को जानते हुए में सारा बखान कर डालतें है।

पर से असम्प्रक्त जीव का पर से कैसा नाता—भैया ! अब परख लिया अपने इस आत्मा को? इसका परपदार्थो के जानने तक का भी सम्बन्ध नही है, किन्तु यह मोही प्राणी यह मेरा कुटुम्बी है, सम्बन्धी है इत्यादि मानता है। अहो ! यह कितना बड़ा अज्ञान अंधकार है? इस महान् अंधकार को भेदने वाली यह ज्ञानज्योति है। यह ज्ञानज्योति उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप है। इसका जिसे दर्शन हो जाता है उसकी समस्त आकुलताएं दूर हो जाती है। इस कारण हे मुमुक्ष पुरुषो ! संसार के संकटों से छूटने की इच्छा करने वाले ज्ञानीसंत जनो ! एक इस

परम अनुपम ज्ञानज्योति की ही बात पूछा करो, एक इस ज्ञानस्वरूप की ही बात चाहा करो और जब चाहे इस ज्ञानस्वरूप की ही बात देखा करो, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ चीज न चाहने लायक है और न देखने लायक है। इस ज्ञानस्वरूप के दर्शन से अर्थात् अपने आपको मैं केवलज्ञानमात्र हूं—ऐसी प्रतीति बनाकर उत्पन्न हुए परमविश्राम के प्रसाद से अनुभव करने वाले पुरुष के अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है, जिस ज्ञान के प्रसाद से समस्त लोक और अलोक को यह आत्मा जान लेता है।

स्वकीय अनन्त तेज की स्मृति—हम आप सब मे अनन्त महान तेज स्वरसतः बसा हुआ है, लेकिन अपने तेज को भूलकर पर्यायरूप मानकर कायर बना हुआ यह जन्तु विषय के साधनों के आधीन बन रहा है। जैसे कोई सिंह का बच्चा भेड़ो के बीच पलने लगा तो भेड़ो बकरियों की तरह ही वह रहने लगा, इसको जो जैसा चाहे वैसे ही सींग मारे, गड़रिया कान पकड़कर खीचता है और वह सिंह का बच्चा उसी तरह दीन होकर रहता है जैसे भेड़ बकरियाँ रहती है। कभी किसी दूसरे सिंह की दहाड़ को सुनकर, उसकी स्थिति की देखकर कभी यह भान कर ले कि ओह मेरे ही समान तो यह हे जिसकी दहाड़ से ये सारे मनुष्य ऊटपटांग भाग खड़े हुए है। अपनी शूरता का ध्यान आए तो यह भी दहाड़ मारकर सारे बंधनो को तोड़ कर स्वतंत्र हो जायगा, ऐसे ही हम आप संसारी प्राणी उस तेजपुँज के प्रताप को भूले हुए है जिस विशुद्व ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि सारे संकट दूर कर दे। इस भव की बातों में ज्यादा न उलझे, यहाँ कोई संकट नही है। संकट तो वह है जो खोटे परिणमन उत्पन्न होते हैं, मोह रागद्वेष की वासना जगती है यह है संकट। यह मोही प्राणी प्रतिक्षण आकुलित रहता है। ये ही हम आप जब इस मोह को दूर करे, विवेक का बल प्रकट करें और अपने तेजपुँज की संभाल करे, अतंरगं में दृढ़ प्रतीति कर लें तो समस्त संकट दूर हो जायेंगे।

आत्मोन्नति से महत्त्व का यत्न—भैया ! दूसरे नेतावों को, धनिकों को देखकर विषाद न करे। वे दुःखी प्राणी है। यदि उन्हें ज्ञानज्योति का दर्शन नही हुआ है, तुम उनसे भी बहुत बड़े बनना चाहते हो तो सांसारिक माया का मोह दूर करके अपने आप में शाश्वत विराजमान इस ज्ञानस्वरूप का अनुभव कर लो, तुम सबसे अधिक बड़े हो। जिन्हें कल्याण की वाञ्छा है उनका कर्तव्य है कि वे ऐसी धुन बनाएँ कि जब पूछे तो इस आत्मस्वरूप की बात पूछें, जब चाहे तब आत्मस्वरूप की बात चाहे और देखें जानें तो आत्मस्वरूप की बात ही देखें जाने, ऐसी ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय तो फिर आकुलता नही रह सकती है।

सम्यग्ज्ञान का चमत्कार—भैया ! लग रहा होगा ऐसा कि यह योगी संतो के करने की बात गृहस्थजनों को क्यों बताना चाहिए? इससे गृहस्थ कुछ फायदा लेंगे क्या ? अपने हृदय से ही बतावों। बिडम्बना का बोझ कुछ हल्का हुआ है या नही? कुछ अंतरंग में प्रसन्नता जगी है या नही? अरे इतना आचरण नही कर सकता तो न सही, किन्तु करने योग्य परमार्थतः क्या काम है, उसका ज्ञान करने में ही महान् आनन्द उत्पन्न होने लगता है।

सूर्य जब उदित होकर सामने आये तब आयगा, किन्तु उससे पौन घंटा पहिले से ही अंधकार सब नष्ट हो जाता है। यह चारित्र आचरण आत्मरमण, स्थिरता जब आए, किन्तु इसका ज्ञान, इसकी श्रद्धा तो पहिले से ही आकुलता को नष्ट करने लगती है। यह ज्ञानभावना समस्त दुःखों का नाश करने वाली है और आत्मा में बल उत्पन्न करने वाली हे। इस ज्योति के अनुभव से जो उत्कृष्ट आनन्द होता है उससे कर्म भी क्षीण होने लगते हैं और आत्मा में भी एकाग्रता होने लगती है।

आत्मलाभ की प्रारम्भिक तैयारी—आत्मा के सहज स्वरूप की बात तो जानने की और लक्ष्य की है। अब इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पद में कैसा व्यवहार करें कि हम इसके धारण के पात्र रह सके। प्रथम कर्तव्य यह है कि सम्पदा को भिन्न, असार, नष्ट होने वाली जानकर इस सम्पदा के खातिर अन्याय करना त्याग दे। कोई भी ऊँची बात मुझे पुरुषार्थ बिना मिलेगी कैसे? और कुछ उससे नुकसान भी नही है, तो हम अन्याय त्याग दे। क्योकि जगत में जीवन के आवश्यक पदार्थों का समागम पुण्योदय के अनुसार सहज सुगमतया मिलता रहता है। अन्याय से सिद्धि नही होती। अन्याय वह है जिसे अपने आप पर घटाकर समझ सकते हैं कि जो बात अपने को बुरी लगती है वह बात दूसरों को भी बुरी लगती है, उसका प्रयोग दूसरों पर करना अन्याय है। ऐसा जानकर उसका प्रयोग दूसरों पर न करे, यही है अन्याय त्याग। हमारे बारे में कोई झूठ बोले, हमारी चीज चुरा ले, हमारी माँ बहिन पर कोई कुदृष्टि डाले तो हम को बुरा लगता है, तो हम भी किसी का दिल न दुखावे, किसी की झूठ बात मब कहें, किसी की चीज न चुराये, किसी परस्त्री पर कुदृष्टि न करें और तृष्णा का आदर न करें। बतावो क्या कष्ट है इसमें? इसमें न आजीविका का भंग होता है और न आत्महित में बाधा आती है।

अन्याय व मिथ्यात्व के त्याग का अनुरोध—भैया ! अन्याय का त्याग और मिथ्या श्रद्धान का त्याग करो। पर से हित मानना, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु में रमना, अपने आपको सर्व से विविक्त न समझ पाना—ये सब मिथ्या आशय है। ज्ञानप्रकाश करके इस मिथ्या आशय का भी त्याग करें और अभक्ष्य पदार्थ न खाये, ज्ञानार्जन में रत रहे, अपनी आजीविका बनाये रहें और इस शुद्धज्ञान के पालने में भी लगे। तुम्हें क्या कष्ट है इसमें? कौन सा नुकसान पड़ता है? व्यर्थ की गप्पों में और काल्पनिक मौजों की चर्चावों में समय खाने से कुछ भी हाथ न लगेगा।

एक ज्ञानस्वरूप की धुनि की आवश्यकता—इस ज्ञानार्जन से शान्ति व संतोष मिलेगा। इससे इस ज्ञानज्योति के अर्जन में, इसकी चर्चा में अपना समय लगाये। इससे ही अपना सम्बन्ध बनाएँ। जैसे कोई कामी पुरुष जिस किसी परस्त्री पर आसक्त हो गया हो या किसी पर कन्या पर जैसे कि पुराणों में भी कितने ही मोहियों की चर्चा सुनी है, तो वह पूछेगा तो वही बात, जानेगा देखेगा तो वही बात, अकेले में भी भजन बोलेगा तो वही। कैसी इस कामी पुरुष की तीव्र धुनी हो जाती है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष के ज्ञानस्वरूप के रुचि की तीव्रता की

धुनि हो जाती है। वह पूछेगा, चाहेगा तो एक ज्ञानस्वरूप को। हम आपका भी यही कर्तव्य है कि इस ज्ञानस्वरूप का आदर करें और संसार संकटो से सदा के लिए छुटकारा पायें।

श्लोक 50

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।

यदन्यदुच्यते किश्चत्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५०।।

संक्षिप्त तत्त्वसंग्रह—ग्रन्थ समाप्ति से पहिले द्विचरम श्लोक में यह बताया जा रहा है कि समस्त प्रतिपादित वर्णनों का सारभूत तत्त्व क्या है? हमें यह पूर्ण ग्रन्थ सुनने पर शिक्षा लेने योग्य बात कितनी ग्रहण करनी है, यह जानना है, वही कहा जा रहा है कि जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है। इतना ही मात्र तत्त्व का संग्रह है, इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ कहा जाता है वह सब इसी तत्त्व का विस्तार है।

मूल में सत्स्वरूपता—मूल में तत्त्व सन्मात्र कहा गया है। जो है वह तत्त्व है, इस दृष्टि से जितने भी पदार्थ है वे समस्त पदार्थ सत्रूप है और इस ही दृष्टि को लेकर अद्वैतवादों की उत्पत्ति होती है। कोई तत्त्व को केवल एक सद्ब्रह्म मानते हैं, कोई तत्त्व को केवल शून्य मात्र मानते हैं, कोई ज्ञानमात्र, कोई चित्रोद्वैतरूप। नाना प्रकार के इन अद्वैतवादों की एक इस सद्भाव से उत्पत्ति हुई है, और इस स्थिति से देखो तो कोई भी पदार्थ हो, प्रत्येक पदार्थ है, है की अपेक्षा सब समान है। जैसे मनुष्य की अपेक्षा बाल, जवान, बूढ़ा किसी भी जाति कुलका, देश का हो सबका संग्रह हो जाता है और जीव की अपेक्षा से मनुष्य हो, पशु हो, कीट हो सबका संग्रह हो जाता है और सत् की अपेक्षा जीव हो अथवा दिखने वाले ये चौकी, भीत आदि अजीव हो सबका संग्रह हो जाता है।

विशेष से अर्थक्रिया की सिद्धि—सत् की दृष्टि समस्त अर्थों के समान होने पर भी अर्थ क्रिया की बात देखना आवश्यक है। काम करने की बात है, प्रत्येक पदार्थ है और वे सब कुछ न कुछ काम कर रहे हैं, उनमें ही परिणमन हो रहा है। और इस अर्थक्रिया की दृष्टि से जितने भी पदार्थ है वे सब एक अपने-अपने स्वरूप में अपना एकत्व लिए हुए है। जैसे गौ जाति और न्यारी-न्यारी गौयें। गऊ जाति से दूध नही निकलता किन्तु जो व्यक्तिगत गौ है उससे दूध निकलता है। जाति तो काम करने वाले अर्थक्रिया से परिणमने वाले, पदार्थ के संग्रह करने वाले धर्म का नाम है। जो ऐसी-ऐसी अनेक गौयें है। उनका संग्रह गौ जाति में होता है। तो वास्तव में पदार्थ अनन्तानन्त तो जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य है। उन सबका सत्त्व धर्म से संग्रह हो जाता है।

जीव और पुद्‌गलों की अनन्तता—जीवद्रव्य अनन्त है, इसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक जीव अपने में अपना ही परिणमन करता है। एक परिणमन जितने में समाये और जितने से बाहर कभी न जाय उसको एक पदार्थ बोला करते हैं। जैसे मेरा सुख-दुःख मेरी कल्पना आदिक रूप परिणमन जितने में अनुभूत होता है। और जिससे बाहर होता ही नही है उसको हम एक कहेंगे। यह मैं एक हूं, ऐसे ही आपका सुख दुःख रागद्वेष समस्त अनुभव आप में ही परिसमाप्त होते हैं सो आप एक है। इस प्रकार एक-एक करके अनन्त जीव है, लेकिन सभी जीवों का मूल स्वरूप एक समान है। अतः सब जीव एक जीव जाति में अंतर्निहित हो जाते हैं। पुद्‌गल भी अनन्त है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाए, उसे पुद्‌गल शब्द में यह अर्थ भरा है—पुद् मायने जो पूरे और गल मायने जो गले। जहाँ मिल-जुल कर एक बड़ा रूप बन सके और बिखर बिखरकर हल्के क्षीण रूप हो जायें उनको पुद्‌गल कहते हैं। ये रूप, रस, गंध, स्पर्श, गुण के पिंड रूप जो इन्द्रिय द्वारा ज्ञान में आते हैं वे सब पुद्‌गल है।

अचेतन अमूर्त द्रव्यों की प्रसिद्धि—धर्मद्रव्य एक ही पदार्थ है। जो ईथर, सूक्ष्म समस्त आकाश में नही किन्तु केवल लोकाकाश में व्याप्त है वह जीव व पुद्‌गल के चलने के समय निमित्तभूत होता है। जैसे मछली को चलाने में जल निमित्तमात्र है। जल मछली को जबरदस्ती नही चलाता किन्तु जल के अभाव में मछली नही चल पाती है। मछली के चलाने में जल भी निमित्त है, इसी प्रकार व्याप्त यह धर्मद्रव्य हम आपको जबरदस्ती नही चलाता, किन्तु हम आप जब चलने का यत्न करते हैं तो धर्मद्रव्य एक निमित्तरूप होता है। इसी प्रकार चलकर ठहरने में निमित्तभूत अधर्मद्रव्य है। वह भी एक है। आकाश के बारे में यद्यपि वह अमूर्त है, इस धर्म आदिक की तरह अरूपी है फिर भी लोगों के दिमाग में आकाश के सम्बन्ध में बड़ी जानकारी बनी रहती है। यह ही तो है आकाश जो पोल है और हाथ फैलाकर बता देते हैं। है वह भी अमूर्त, न हाथ से बताया जा सकता और न दिखाया जा सकता और इस लोक में एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है जिस पर स्थित हुए समस्त द्रव्यों की वर्तना में जो कारण है।

जीवगत क्षोभ व उसके विनाश के लिए निज ध्रुव तत्त्व के आश्रय की आवश्यकता—इन सब द्रव्यों में से केवल जीव और पुद्‌गल ही विभावरूप परिणम सकते हैं। हम आप जीवों को क्षोभ लगे है तो इस पुद्‌गल के सम्बन्ध से धन, सम्पदा, घर, मकान, शरीर, ये कुटुम्बी जन इनको देखकर न कहना, ये तो निमित्तभूत कार्माण पुद्‌गल के नोकर्म है, आश्रयभूत है। जो यह सब दृश्यमान है उसको देखकर इन सबके झंझट कल्पना में आते हैं, जो रात दिन परेशान किए रहते हैं इस जीव को। तो जीव का हित इसमें है कि वह झंझटों से मुक्त हो। झंझटों से मुक्त तब ही हो सकता है जब इसको कोई ध्रुव आश्रय मिले। जितने भी ये बाह्य पदार्थ है जिनका यह मोही जीव आश्रय किए रहता है वे सब अध्रुव है। जैसे चलते हुए मुसाफिर को रास्ते में पेड़ मिलते हैं तो पेड़ निकलते जाते हैं, उन पेड़ों से मुसाफिर को मोहब्बत नही होती है, उनको देखकर निकल जाता है, ऐसे ही

यात्रा करते हुए हम आप सब जीवों को ये समागम थोड़ी देर को मिलते हैं, निकलते जाते हैं, इन अध्रुव पदार्थों के प्रीति करने में हित नही है। जिनको अपने ध्रुव तत्त्व का परिचय नही है वे आश्रय लेंगे अध्रुव का।

देहदेवालयस्थ देव के शुद्ध परिचय की शक्यता—इन पुद्गलों से भिन्न मैं हूं, ऐसा समझने के लिए स्वरूप जानना होगा, यह मै जीव चेतन हूं और ये पुद्गल अचेतन है, इनसे मैं न्यारा हूं। शरीर में बँधा होकर भी यह जीव अपने स्वरूप को पहिचान ले, इसमें क्या कुछ अनुमान प्रमाण भी हो सकता है? हाँ है। जब हम आप किसी एंकात में बैठ जाते हैं तो वहाँ केवल एक प्रकार की कल्पना-कल्पना में ही उपयोग बसा रहता है। उस समय यह भी स्मरण नही रहता कि मेरा देह है, मेरा घर है। केवल एक कल्पना ही रहा करती है। कोई काम धुनिपूर्वक कर रहे हो, उसमें किसी तत्त्व की धुन लगी हो तो अपने शरीर का भी भान नही रहता है। कोई एक तत्त्व ज्ञान में रहता है। अब तो जाननहार तत्त्व है उस ही का स्वरूप कोई जानने में लग जाये, ऐसी धुन बने तो उसे इस देह का भी भान नही रहता है, जिस पर दृष्टि हो उसका ही स्वाद आता है चाहे कही बस रहे हो, जहाँ दृष्टि होगी अनुभव उसका ही होगा।

दृष्टि के अनुसार स्वाद—एक छोटी सी कथानक है—किसी समय सभा में बैठे हुए बादशाह ने बीरबल से मजाक किया बीरबल को नीचा दिखाने के लिए। बीरबल ! आज हमें ऐसा स्वप्न आया है कि हम और तुम दोनो घूमनें जा रहे थे। रास्ते में दो गड्ढे मिले, एक में शक्कर भरी थी और एक में गोबर, मल आदि गंदी चीजें भरी थी। सो में तो गिर गया शक्कर के गड्ढे में और तुम गिर गये मल के गड्ढे में। बीरबल बोला—हजूर ऐसा ही स्वप्न हमें भी आया। न जाने हम और आपका कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि जो आप देखते स्वप्न में सो ही मैं देखता। सो मैंने स्वप्न में देखा कि हम और तुम दोनों घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्ढे मिले। एक था शक्कर का गड्ढ़ा और एक था मल, गोबर आदि का गड्ढा। शक्कर के गड्ढे में तो आप गिर गये और मै गोबर मल के गड्ढे में गिर गया, पर इसके बाद थोड़ा और देखा कि आप हमको चाट रहे थे और आप हमको चाट रहे थे। अब देखो— बादशाह को क्या चटाया ? गोबर, मल आदि, और स्वंय ने क्या चाटा? शक्कर। तो कहाँ हम पड़े है, कहा विराजे है, इसका ख्याल न करना, किन्तु जहाँ दृष्टि लगी है उस पर निगाह करना। स्वाद उसी का आयगा जहाँ पर दृष्टि लगी है। यह ज्ञानी गृहस्थ अनेक झंझटों में फंसा है, घर में है, कितना उत्तरदायित्व है ऐसी स्थिति में रहकर भी उसकी दृष्टि वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर है। अपने सहज ज्ञानस्वरूप का भान है, उस और कभी दृष्टि हुई थी। उसका स्मरण है तो उसको अनुभव और स्वाद परमपदार्थ का आ रहा है।

श्रद्धाभेद से फलभेद—कोई पुरुष बड़ी विद्याएँ सीख जाए, अनेक भाषाएँ जान जाय, और ग्रन्थों का विषय भी खूब याद कर ले, लेकिन एक सहजस्वरूप का भान न कर सके और अपनी प्रकट कलावों द्वारा विषयों के पोषण में ही लगा रहे तो बतलावों कि ऐसे जानकारो के द्वारा स्वाद किसका लिया गया? विषयों का, और एक न कुछ भी जानता हो और स्थिति भी कैसी हो विचित्र हो, किन्तु भान हो जाय निज सहजस्वरूप का तो स्वाद

लेगा अंतस्तत्त्व का आनन्द का। भैया ! श्रद्धा बहुत मौलिक साधन है। हो सकता है कि पशु पक्षी, गाय, बैल, भैस, सूवर, गधा, नेवला, बंदर आदि ये अंतस्तत्त्व का स्वाद कर लें अर्थात् ब्रह्मस्वरूप का अनुभव कर ले, इस ज्ञानशक्ति का प्रत्यय कर लें—मैं ज्ञानानन्दमात्र हूं। जो जिस से बोल भी नही सकते, जिनकी कोई व्यक्ति भी नही हो पाती है। कहो उन जीवों में से कोई निज सहजस्वरूप का भान कर ले और बहुत विद्यावों को पढ़कर भी न कर सके तो अन्तर एक श्रद्धा की पद्धति का रहा। सप्तम नरक का नारकी जीव तो सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकता है और भोग विषयों में आसक्त जीव मनुष्य है और बड़ी प्रतिष्ठा, यश अनेक बातें हो, पर विषयों का व्यामोही पुरुष इस सम्यक्त्व का अनुभव नही कर सकता है। श्रद्धा एक मौलिक साधन है उन्नति के पथ में बढ़ने का।

पार्थक्य प्रतिबोध—यहाँ इतना ही समझना है संक्षेपरूप में कि जीव जुदे हैं पुद्गल जुदे हे। ये सामने दो अंगुली है, ये दोनों अंगुली जुदी-जुदी है क्योंकि यह अनामिका अंगुली मध्यमा रूप नही हो सकती और मध्यमा अंगुली अनामिका अंगुली रूप नही हो सकती। इस कारण हम जानते हैं कि ये दो अंगुलियाँ जुदी-जुदी है। ऐसे ही ये दो मनुष्य जुदे-जुदे है क्योंकि यह एक मनुष्य दूसरे मनुष्यरूप नही हो पाता और यह दूसरा मनुष्य इस मनुष्य रूप नही हो पाता यही तो भिन्नता समझने का साधन है। तो ये समस्त पुद्गल प्रसंग जिनके व्यामोह में विपत्ति और विडम्बना रहती है, ये अचेतन है और यह मै जीव चेतन हूं। इस प्रकार का उनका आसाधारणस्वरूप जानना, बस यही एक हेय पदार्थ से अलग होकर उपादेय पदार्थ में लगने का साधन है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसका विस्तार है। सात तत्त्व जीव पुद्गल के विस्तार है, तीन लोक का वर्णन यह जीव पुद्गल का विस्तार है। सर्वत्र जानना इतना है कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जुदा हूं और ये देहादिक पुद्गल मुझसे जुदे है।

यथार्थ प्रतिबोध के बिना शान्ति का अनुपाय—भैया ! शान्ति यथार्थ ज्ञान बिना नही मिल सकती, चाहे कैसा ही कुटुम्ब मिले, कितनी ही धन सम्पदा मिले, पर अपना ज्ञानानन्द स्वभाव यह मैं हूं ऐसी प्रतिति के बिना संतोष हो ही नही सकता। कहाँ संतोष करोगे?

तृष्णा के फेर में अशान्ति—एक सेठ जी एक बढ़ई ये दोनो पास-पास के घर में रहते थे। बढ़ई दो रुपये रोज कमाता था और सब खर्च करके खूब खाता पीता था और सेठ सैकड़ों रुपयों कमाता था और दाल रोटी का ही रोज-रोज उसके यहाँ भोजन होता था। सेठानी सेठजी से कहती है कि यह गरीब तो राज पकवान खाता है और आपके घर में दाल रोटी ही बनती है तो सेठ जी बोले कि अभी तू भोली है, जानती नही है यह बंढ़ई अभी निन्यानवे के फेर मे नही पड़ा है। निन्यानवे का फेर कैसा? सेठ जी एक थैली में ९९ रुपये रखकर रात्रि को बढ़ई के घर में डाल दिये। सोचा कि एक बार ९९ रुपये जाये तो जाये, सदा के लिए झंझट तो मिटे, घर की लड़ाई तो मिटे। बढ़ई ने सुबह थैली देखी तो बड़ा खुश हुआ। गिनने लगा रुपये—एक दो, १०, २०, ५०,

७०, ८०, ९०, ९८, और ९९। अरे भगवान ने सुनी तो खूब है मगर एक रुपया काट लिया। कुछ हर्ज नही, हम आज के दिन आधा ही खर्च करेंगे, १ रुपये उसमें मिला देंगे तो १००) हो जायेंगे। मिला दिया। अब १००) हो गये। सोचा कि हमारा पड़ौसी तो हजारपति है उसको बहुत सुख है, अब वह जोड़ने के चक्कर में पड़ गया। सो हजार जोड़ने की चिन्ता लग गई। अब तो वह दो रुपये कमाए तो चार आने में ही खाने पीने का खर्चा चला ले। अब जब हालत हो गयी तो सेठ कहता है सेठानी से कि देख अब बढ़ई के यहां क्या हो रहा है? तो सेठानी ने बताया कि अब तो वहाँ बड़ा बुरा हाल है। बस यही तो है निन्यानवे का फेर।

शान्ति का स्थान—यह अनुमान तो कर लो कि कहाँ शान्ति मिलेगी? निर्लेप आकिश्चन्य ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मैं हूं, मेरा कही कुछ नही है, ऐसा अनुभव करने में ही शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नही। इसलिए कहा है कि तत्त्व का संग्रह इतना ही है। पुद्गल जुदे है और मैं इस पुद्गल से जुदा हूं।

श्लोक 51

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य विद्वान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।

मुक्ताग्रहो विनिवसन्स्वजनेऽजने व मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।५१।।

इष्टोपदेश के अध्ययन का फल—यह इष्टोपदेश ग्रन्थ का अंतिम छंद है। इस छंद मे इस ग्रन्थ के अध्ययन का फल बताया है। ग्रन्थ का नाम है इष्टोपदेश। जो आत्मा को इष्ट है अर्थात् आत्महित करने वाला है ऐसे तत्त्व का उपदेश, तत्त्व की दृष्टि और तत्त्व के ग्रहण का उपाय जिसमें बताया है इस ग्रन्थ की समाप्ति पर यह अन्तिम छंद कहा जा रहा है। किसी भी विषय को, ग्रन्थ को, उपदेश को, जानने का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है। ज्ञान के फल चार बताए गये है—अज्ञान निवृत्ति, हेय का त्याग करना, उपादेय का ग्रहण करना व उपेक्षा हो जाना। ज्ञान के फल चार होते हैं जिसमें अज्ञाननिवृत्ति तो सब में रहता है। चाहे हेय का त्याग रूप फल पाये, चाहे उपादेय का ग्रहणरूप फल पाये और चाहे उपेक्षा पाये, अज्ञाननिवृत्ति सब में फल मिलेगा। जिस तत्त्व का परिज्ञान कर रहे हैं, जब तक हमारा अज्ञान दूर न हो जाय तब तक हेय को छोड़ेगा कैसे कोई, अथवा विषयों को त्यागेगा कैसे या उदासीनता भी कैसे बनेगी? जगत के जीव अज्ञान अंधकार में पड़े है। अज्ञान अंधकार यही है कि वस्तु है और भांति व जानता है और भांति, यही अज्ञान अंधकार है।

कल्पित चतुराई—यों तो भैया ! अपनी कल्पना में अपनी बड़ी चतुराई जंच रही है। दस आदमियों में हम अच्छा बोलते हैं, हम अनेक कलाये जानते हे और अनेकों से बहुत-बहुत चतुराई के काम कर डालते हैं, इतनी बड़ी सम्पदा बना ली है, ऐसा मिल और फैक्टरी खोल ली है। हम तो चतुर है और बड़े ज्ञानवान है। सबको अपने आप में अपनी चतुराई नजर आती है, और यों अलंकार में कह लो कि मान लों दुनिया में कुल डेढ़ अक्ल हो तो प्रत्येक मनुष्य एक अक्ल तो अपने में सोचता है और आधी अक्ल दुनिया के सब लोगो में मानता है।

अपनी चतुराई सभी मानतें है। भिखारी भी भीख मांग लेने में अपनी चतुराई समझते हैं। वाह् मैने कैसी चतुराई खेली कि इसने मुझे इतना कुछ दे दिया। लेकिन यह सब अज्ञान अधंकार है।

निष्पक्ष वृत्ति में आत्महित—आत्मा का हित आत्मा का मर्म निष्पक्ष हो सके बिना नही मिल सकता है। केवल अपने आप में आत्मत्व का नाता रखकर सब कुछ जाने, करे, बोले, नाता केवल आत्मीयता का हो, किसी अन्य सम्बन्धों का न हो। एक वस्तु का दूसरे वस्तु के साथ कोई तात्त्विक सम्बंध नही है, क्योंकि वस्तु का सत्त्व इस बात को सिद्ध करता है कि इस वस्तु का द्रव्य गुण पर्याय कुछ भी इस वस्तु से बाहर नही रहता है और ऐसे ही समस्त पदार्थ है। जब समस्त वस्तुवों में स्वतंत्रता है क्योकि अपने स्वरूप की स्वतंत्रता आये बिना उसकी सत्ता ही नही रह सकती है, तब किस पदार्थ का किससे सम्बंध है?

प्रकाश दृष्टान्त पर वस्तुस्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन—वस्तुस्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में कुछ दो चार चर्चाये कोई छेड़ दे तो प्रथम तो कोई थोड़ी बहुत आलोचना करेगा, लेकिन कुछ सुनने के बाद, मनन के बाद समझ में आ जायगा कि ओह! वस्तु की इतनी पूर्ण स्वतंत्रता है। यहाँ जो प्रकाश दिख रहा है, इसी के बारे में पूछे कि बतावो यह प्रकाश किसका है, सब लोग प्रायः यह कहेगें कि यह प्रकाश लट्टू का है, बल्ब का है। कितना ? जितना इस कमरे में फैला है। लेकिन यह तो बतावों कि लट्टू किसको कहते हैं और वह कितना है? इसके स्वरूप का पहिले निर्णय करे। कहने में आयगा कि वह तो एक तीन-चार इंच घेर का है और उसमें भी जितने पतले-पतले तार है उतना मात्र है। तो यह नियम सर्वत्र लगेगा कि जो वस्तु जितने परिणाम की है उस वस्तु का द्रव्य गुण पर्याय, (पर्याय मीन्स मोडीफिकेशन) वह उतनेमे ही होगा, उससे बाहर नही। इस नियम से कही भी विघात नही होता है। यह प्रकाश जो इस माइक पर है यह लट्टू का प्रकाश नही है, यह माइक का प्रकाश है। चौकी पुस्तक कपड़े आदि पर जो प्रकाश है वह लट्टू का प्रकाश नही, वह कपड़ा चौकी आदि का प्रकाश है। इसमें कुछ युक्तियां देखो। लट्टू भी एक पौद्गलिक चीज है, भौतिक चीज है। जैसे उस भौतिक चीज में इतना तेज स्वरूप होने की योग्यता है तो इस पदार्थ में भी अपनी-अपनी योग्यता के माफिक तेज स्वरूप होने का स्वभाव है। दूसरी बात यह है कि लट्टू का ही प्रकाश हो तो यह सर्व चीजों पर एक समान होता, यह भेद क्यों पड़ गया कि कांच ज्यादा चमकीला बन गया, पालिशदार चीज उससे कम चमकीली है और यह फर्श अत्यन्त कम चमकीला है। यह अन्तर कहाँ से आया? ये पदार्थ स्वंय अपनी योग्यता के अनुसार प्रकाशमान हो गए है।

छाया दृष्टान्त पर वस्तुस्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन—वस्तुस्वातन्त्र्य के बारे में दूसरी बात देखो—इस हाथ की छाया चौकी पर पड़ रही है, सब लोग देख रहे होंगे। अच्छा बताइए कि यह किसका परिणमन है? लोग तो यही कहेंगे कि यह तो हाथ की छाया है। लेकिन हाथ कितना है, कहाँ है? जितना हाथ है, जितने में है, हाथ का सब कुछ प्रभाव परिणमन गुण सब कुछ हाथ में ही गर्भित हो गया, हाथ से बाहर नही हुआ, लेकिन आप यह शंका कर सकेगें कि हाथ न हो तो वह छाया कैसे हो जायगी? बस यही है निमित्त के सद्भाव को बताने का

समाधान। यही निमित्त है, निमित्त की उपस्थिति बिना इस उपादेय में इस रूप कार्य न हो सके यह बात युक्त है, पर निमित्तभूत पदार्थ का द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रभाव कुछ भी परवस्तु में उपादान में नही आता।

पर के अकर्तृत्व पर एक जज का दृष्टान्त—एक जज साहब थे, वे कोर्ट जा रहे थे, ठीक टाइम से जा रहे थे। रास्ते में एक गधा कीचड़ में फंसा हुआ दिखा। जज साहब से न रहा गया, सो मोटर से उतरकर उसे कीचड़ से निकालने लगे। साथ के सिपाही लोगों ने मना किया कि हम लोग निकाले देते हैं आप न निकालो, पर वे नही माने। उस गधे के निकालने में जज साहब कीचड़ से भर गए और उसी हालत में कोर्ट चले गए। वहाँ लोगों ने देखा कि आज जज साहब की बड़ी बुरी हालत है, कोट पैंट आदि में मिट्टी लगी हुई है। साथ के सिपाही लोगों ने उनसे बताया कि आज जज साहब ने एक गधे की कीचड़ में फंसा हुआ देखकर उसके ऊपर दया करके उसे कीचड़ से निकाला है। तो जज साहब बोले कि मैंने गधे पर दया नही की, गधे की वेदना को देखकर मेरे हृदय में एक वेदना उत्पन्न हुई, सो उस अपनी ही वेदना को मैंने मिटाया।

स्वातन्त्र्यसिद्धि में दृष्टान्तों का उपसंहार—ऐसे ही जज की घटना में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध था कि वह गधा बच गया। इसी को कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध। ऐसे ही सभी पदार्थों में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध छाया रूप परिणमी। यह छाया निश्चय से चौकी की है, व्यवहार से हाथ की है। यह समस्त प्रकाश निश्चय से इन वस्तुओं का है व्यवहार से लट्टू का है। हम बोल रहे हैं, आप सब सुन रहे हैं। लोगो को दिखता है कि महाराज हमको समझाया करते हैं, लेकिन मैं कुछ भी नही समझा पाता हूं, न मुझमें सामर्थ्य हैं कि मैं आपको समझा सकूँ, या आप में कोई परिणमन कर दूँ,। जैसे अपने भावो के अनुसार अपना हित जानकर अपनी चेष्टा करते हैं। सुनने आते हैं, उपयोग देते हैं और उन वचनों का निमित्त पाकर अपने ज्ञान में कुछ विलास और विकास पैदा करते हैं, ऐसे ही मै ही अपने ही मन मे, अपने ही विकल्प में विकल्प करता हुआ बैठ जाता हूं, बोलने लगता हूं, और अपनी चेष्टा करता हूं। मै जैसे आप में कुछ नही करता हूं, आप मुझमें कुछ नही करते किन्तु यह प्रतिपादक और प्रतिपाद्यपने का सम्बन्ध तो लोग देख ही रहे हैं, यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की बात है।

अन्तःस्वरूप के परिचय से स्वातन्त्र्य का परिज्ञान—भैया ! अंत:स्वरूप में प्रवेश पाने के बाद वस्तु की स्वंतत्रता विदित होती है। ऐसी स्वतंत्रता विदित होने पर मोह रह नही सकता। कैसे रहेगा मोह? मोह कहते हैं उसको कि किसी वस्तु को किसी दूसरे की वस्तु मानना। जहाँ स्वतंत्र वस्तु नजर आ रहे हैं वहाँ सम्बंध कैसे माना जा सकता है, मोह ठहर नही सकता है। किसी भी उपदेश के अध्ययन का फल साक्षात् अज्ञान निवृति है। यह जीव पहिले अपनाए हुए परवस्तु का त्याग करता है यह भी ज्ञान का फल है। जो चीज ग्रहण के अयोग्य है उसे ग्रहण नही करना है, किन्तु मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना है, उदासीन रहना है। उसके फल से उत्कृष्ट फल है उदासीनता का। यो इस ग्रन्थ का भली प्रकार अध्ययन करे। भली प्रकार का अर्थ है अपेक्षा लगाकर।

स्याद्वाद के बिना मन्तव्यों में विरोध—देखिये विडम्बना की बात, जीव सब ज्ञानमय है और एक पुरुष दूसरे की बात का खण्डन करता है। यह कैसी विडम्बना हो गयी है? जब ज्ञानमय दूसरे जीव है, ज्ञानमय हम भी है तो हम दूसरे के तत्त्वनिर्णय का खण्डन करे, यही तो एक विडम्बना की बात है। यह विडम्बना क्यों बनी? इसने नय का अवलम्बन छोड़ दिया। दूसरे की बात सुनने का धैर्य रक्खो और उस कहने वाले के दिमाग जैसा अपना दिमाग बनावो और उसे सुनो, दूसरे की बात मानो अथवा न मानो, इसके दोनो ही उत्तर है, मानना भी और न मानना भी, लेकिन दूसरे की बात को हम गलत न कह सके। जिस दृष्टि मे मान लिया और अन्य दृष्टि से वह बात नही मानी जा सकती है। जैसे कोई पुरुष किसी पुरुष के बारे में परिचय बताने वाली एक बात कह दें कि यह अमुकका बाप है, हाँ अमुक का बाबा है, यह दृष्टि बनने पर तो विडम्बनापूर्ण वचन नही हुए, यहाँ कोई दृष्टि छोड़ दे, यह साहब तो बाप कह रहे हैं, वही विवाद हो जायगा। वह पुरुष किसी का पुत्र है, किसी का कोई है। यदि हम अपेक्षा समझतें है तो वहाँ कोई विसम्वाद उत्पन्न न होगा। अपेक्षा त्यागकर तो विडम्बना बनती ही है। ऐसे ही जीव और समस्त पदार्थों के स्वरूप के बारे में जिसने जो कुछ कहा है उनके दिमाग को टटोले, सबकी बात को आप सही मान जायेगे। लेकिन वे सब परस्पर विरुद्ध तो बोल रहे हैं, इन सबको सही कैसे मान लोगे? अरे भले ही परस्पर विरुद्ध बोले लेकिन जिस दृष्टि से जो कहता है उस दृष्टि से उसकी बात जान लेना है, इसमें कोई विडम्बना की बात नही है।

सम्यग्ज्ञान होने पर कर्तव्य—नयों द्वारा वस्तुत्व को जान लेने पर फिर कर्तव्य यह होता है। कि जो ध्रुव तत्त्व से सम्बद्ध दृष्टि है उसे ग्रहण कर लें और अध्रुव तत्त्वरूप जो निर्णीत है उसे छोड़ दे और अंत में ध्रुव और अध्रुव दोंनो की कल्पना हटाकर एक परम उदासीन अवस्था प्राप्त करे। यह है आत्महित करने की पद्धति। इस इष्टोपदेश को भली प्रकार विचारकर आत्मज्ञान के बल से सम्मान और अपमान में समतापरिणाम धारण करना, न राग करना, न द्वेष करना और ग्राम वन जंगल किसी भी जगह ठहरते हुए समस्त आग्रहो को छोड़ देना, मूल सत्य के आग्रह के सिवाय अन्य समस्त आग्रहों का परित्याग कर दे, अन्त में यह सत्य सत्यरूप रह जायगा। सत्य का भी आग्रह न रह जायगा। सत्य का भी जब तक आग्रह है तब तक विकल्प है, भेद है, और जब सत्य का भी आग्रह नही रहता किन्तु स्वयं सत्यरूप विकसित हो जाता है वह है आत्मा की उन्नति की एक चरम अवस्था। यह जीव फिर ऐसे ही अनन्त ज्ञानानन्द गुणों से सम्पन्न एक निरूपम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इष्टोपदेश के सम्यक् अध्ययन का फल—इस ग्रन्थ के अध्ययन के फल में बताया है कि अज्ञान निवृत्ति, हेय पदार्थों का त्याग, उपादेय का ग्रहण, फिर परम उदासीन अवस्था—यह क्रमशः होकर अंत में इस निरुपण निर्वाण की अवस्था प्राप्त होती है। साक्षात् फल तो अज्ञान निवृत्त हो गया यह है, साथ ही चूँकि निश्चय और व्यवहारनय से पदार्थों को समझा भी है तो उस ही के फल में बाह्य का त्याग करना, ध्रुव निज ब्रह्मस्वरूप में

मग्न होकर समस्त रागद्वेष मान अपमान संकल्प विकल्प विकारों को त्याग देना है। अब इसके इस योग साधन के सम्बंध में शत्रु, मित्र, महल, मकान कांच, निन्दा, स्तवन—ये सब समान रूप से अनुभव में आते हैं। जो पुरुष आत्मा के अनुष्ठान में जागरूक होता है, स्वाधीन, नय पद्धति से निर्णय करके उन सब नयपक्षों को छोड़कर केवल एक ज्ञानस्वरूप में जो अपना उपयोग करता है, वीतराग शुद्ध ज्ञान प्रकाश में मग्न होता हुआ सर्व विकारों से दूर होकर विशुद्ध बन जाता है, फिर यह जीव अनन्त ज्ञान जिसके द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता बनता है, अनन्त दर्शन, जिसके द्वारा समस्त अनन्त ज्ञेयों को जानने वाले इस निज आत्मतत्त्व को दृष्टि में परिपूर्ण ले लेता है। अनन्त आनन्द, जिसके बल में कोई भी आकुलता कभी भी न होगी और अनन्त सामर्थ्य, जिसके कारण यह समस्त विकास एक समान निरन्तर बना रहेगा, ऐसे अनन्त चतुष्टयसम्पन्न स्थिति को भव्य जीव प्राप्त होता है।

इष्टोपदेश से सारभूत शिक्षण—इस उपदेश को सुनकर हमें अपने जीवन में शिक्षा लेनी है कि हम अपने को समझें और आत्मधर्म के नाते हम अपने आप में कुछ अलौकिक सत्य कार्य कर जाये, जिससे हमारा यह दुर्लभ नर-जन्म पाना सफल हो। उसके अर्थ में रागद्वेष निवारक शास्त्रों का अध्ययन करें और सत्संग, गुरुसेवा, स्वाध्याय, ज्ञानाभ्यास इत्यादि उपायों से अपने आत्मतत्त्व को रागद्वेषों की कलुषतावों से रहित बनाये। यह चर्या हम आपकी उन्नति का प्रधान कारण बनेगी।